जैन भारती

दिसंबर 2012 • वर्ष 60 • अंक 12 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

SMT MACHINES

INFRASTRUCTURE

- In-House third party inspection facility.
- SMT has three manufacturing units.
- SMT has more than 150 Heavy and Precise machine out of which about 60 machines are imported from Europe, efforts to deliver the best and on time.
- All the designing is done on 3D Autodesk Inventor software's by our experienced engineers
- SMT has taken initiative to provide Operating and Instruction Manual with most of the machines integrated by Oracles ERP Software, dedicating ourselves to professionalism committed for the Best of the After Sale Services and lot more.

Turnkey Project Experts in Total Steel Making

Apart from regular products, we provides-Certified TMT Quenching Box, Automatic and Skid Type transfer cooling Beds, Twin Channels, Eden Borne Type Coiler, Flying & Dividing Shears, Cobble Shears, Section Straightening Machine, Repeaters Roller Conyeyors, Tilting & Y Table, Snap Shears etc.

SMT

Fine Strokes (09866291098)

SMT MACHINES (INDIA) LIMITED

An ISO 9001:2000 Co., An ISO 14001 : 2004 Co., An ISO 18001: 2007 Co.
D & B Ranked SE 2A Unit, Govt of India Recognized Export House
G.T.Road Near Industrial Focal Point, Mandi Gobindgarh - 147301,
INDIA, Mob : + 91-93577 55555
Tel : + 91- 1765 256337, 257742, Fax : 255199
e- mail : info@smtmachinesindia.org, info@smtsteelmills.com
Web : www.smtmachinesindia.org. www.smtsteelmills.com

शुभू पटवा
मानद संपादक

जैन भारती

वर्ष 60 • दिसंबर, 2012 • अंक 12

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
मनोविज्ञान के कारक तत्त्व और व्यक्तित्व विकास

16
कि. घ. मशरूवाला
परिग्रह-अपरिग्रह कुछ चिंतनीय बिंदु

21
साध्वी पुण्ययशा
लोगस्स : निहित है आध्यात्मिक एवं लौकिक उन्नयन

•

आवरण
गौरीशंकर

अनुभूति

31
आचार्यश्री महाश्रमण
मोक्षत्व : शांति संपन्नता व अहंकार मुक्ति

35
मुनि धनंजयकुमार
क्यों होता है आर्थिक असदाचार : जरा सोचें!

39
साध्वी जयमाला
संयमः खलु जीवनम् : निहित है विष-बेल का शमन

42
कहानी
मोहन राकेश
नन्ही की नब्ज

46
कविता
फेडेरिको मायोर की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
हमारी धरोहर ही शक्ति

शीलदा

49
समणी विपुलप्रज्ञा
अनेकांतवाद : सत्यवाद भी; महाविज्ञान भी

52
मुनि मोहनलाल 'सार्दुल'
छद्मवेशी होते हैं आत्मा के रोग

55
बालकथा
चित्रा मुद्गल
कमला की परीक्षा

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

'एकलड़ो' जीव

स्वामीजी पुर पधारे। मेघो भाट आकर चर्चा करने लगा—'कालवादी ऐसा कहते हैं कि भीखणजी उपदेश की गाथा में तो ऐसा कहते हैं कि—'अकेला जीव संसार में भ्रमण करेगा'—और नव पदार्थ में पांच को जीव बतलाते हैं। इस दृष्टि से 'एकलड़ा' जीव संसार में भ्रमण करेगा—ऐसा नहीं, किंतु—'पांचलड़ा' जीव संसार में भ्रमण करेगा, ऐसा कहना चाहिए।'

तब स्वामीजी बोले—'कालवादी सिद्ध जीवों में कितनी आत्मा बतलाते हैं?'

तब मेघो भाट बोला—'वे सिद्धों में चार आत्मा बतलाते हैं और वे उन आत्माओं को जीव बतलाते हैं। इस दृष्टि से 'चौलड़ा' जीव तो उन्होंने ही मान लिया। एक 'लड़' हमारी अधिक हुई।' यह कह उसे समझा दिया। स्वामीजी का उत्तर सुन वह प्रसन्न हुआ।

आत्मा सात या आठ?

माधोपुर में श्रावक गूजरमलजी और केसूरामजी परस्पर चर्चा में उलझ गए। गूजरमलजी ने श्रावक में आठ आत्माएं (मूल आत्मा की तरह आत्मा की पर्याय भी आत्मा कहलाती है। उनका वर्गीकरण करने से आत्मा के आठ प्रकार होते हैं) बतलाई और केसूरामजी ने सात।

गूजरमलजी बोले—'यदि चारित्र आत्मा श्रावक में न हो तो उसके सचित वनस्पति खाने के त्याग का क्या अर्थ?'

इतने में वहां स्वामीजी पधारे। उनके परस्पर बढ़े हुए विवाद को देख कर 'कोई कानों में बात न कर सके' इस दृष्टि से स्वामीजी ने अपने दोनों ओर पट्ट रखवा दिए। फिर अपेक्षा-दृष्टि का प्रयोग कर दोनों को समझाया। स्वामीजी ने कहा—'श्रावक में पांचों ही 'चारित्र' (जैन शास्त्रों में पांच प्रकार का चारित्र बतलाया गया है। वे साधु में ही होते हैं।) नहीं होते, इस दृष्टि से उसमें आत्माएं सात कही जा सकती हैं और त्याग की अपेक्षा उसमें आंशिक चारित्र होता है, इस दृष्टि से उसमें आत्माएं आठ कही जा सकती हैं। यह कह कर उनकी उलझन सुलझा दी। ●

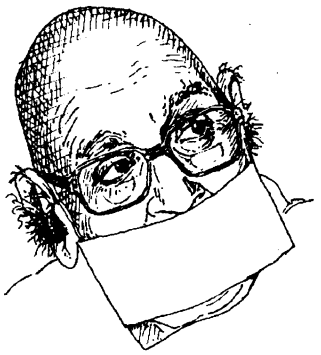

किसी भी समाज के निर्माण में राजनीति और अर्थ का प्रमुख हाथ होता है। इसलिए हर व्यवस्था में सबसे पहले इन्हीं की ओर ध्यान जाता है। इनमें ही नए-नए प्रयोग होते हैं और इन्हीं के आधार पर सामाजिक विषमताओं और समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न होता है। अणुव्रत भी इनके महत्त्व को स्वीकारता है, किंतु इनको सर्वोपरि महत्त्व नहीं देता। अणुव्रत का मानना है कि इनको ही सर्वोपरि महत्त्व देने से समस्याएं दिन-प्रतिदिन उलझती ही रही हैं। साथ ही मनुष्य का जीवन भी अधिक से अधिक यांत्रिक और सामाजिक नियंत्रणमय होता जा रहा है।

अर्थ और राजनीति के विभिन्न प्रयोगों का अध्ययन करते हुए अणुव्रत भावनात्मक स्तर पर कार्य करना चाहता है। अणुव्रत का विचार है कि निथरे हुए प्रयोग ही भावनात्मक भूमिका पर सफल हो सकते हैं। अणुव्रत चाहता है कि व्यवस्थाएं स्वचालित हों, पथ का मात्र निर्देशन देने वाली हों। यह काम व्यक्ति का है कि वह किस प्रकार चले। गति के लिए सबको समान अवकाश देना व्यवस्था का कार्य है, गति को बांधने का नहीं। व्यवस्था की यह स्थिति मनुष्य के भावनात्मक पक्ष के विकास से ही संभव है।

—आचार्यश्री तुलसी

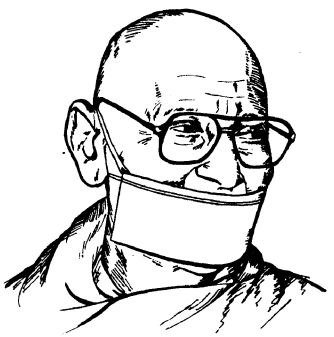

उत्तराध्ययन और कुरान को आमने-सामने रख कर देखेंगे तो ऐसा लगेगा कि अनुभव दो नहीं होते, अच्छाई दो नहीं होती। अंतर हो सकता है—सूक्ष्मता तक जाने में, गहराई तक पहुंचने में। पर, जहां आचार और व्यवहार के स्थूल सिद्धांतों का प्रश्न है, वहां अनेक धर्मों में समानता के व्यापक तत्त्व खोजे जा सकते हैं। हमें इस संदर्भ में प्रयत्न भी करना चाहिए। जैन दर्शन का दृष्टिकोण बड़ा उदार रहा है। जैन धर्म में बहुश्रुत वह होता है, जो अपने सिद्धांतों को भी जानता है और दूसरों के सिद्धांतों को भी जानता है। आचार्य की यह एक विशेषता है कि वह स्व-समय और पर-समय दोनों का ज्ञाता हो। दूसरे धर्मों को जानने का एक लाभ यह होता है कि दृष्टि की संकीर्णता मिट जाती है। अन्यथा आदमी कूपमंडूक बना रहता है। वह सोचता है कि सारी अच्छाइयां यहीं हैं—जबकि तुलनात्मक अध्ययन से ही पता चलता है कि अच्छाइयों का क्षेत्र व्यापक है। सत्य सदा विराट होता है।

हम दूसरे धर्मों को जानें, लेकिन केवल ऊपरी तौर पर नहीं। सब धर्मों के बारे में मौलिक जानकारी करनी चाहिए। मूल सिद्धांत क्या हैं और उसकी तुलना कैसे हो सकती है? नयवाद इसका माध्यम बन सकता है। नयवाद इतना व्यापक है कि उसमें आग्रह का अवकाश ही नहीं है। हमारी दृष्टि में प्रत्येक धर्म एक 'नय' है। उस 'नय' को समझें। एक व्यापक दृष्टिकोण हमारी समझ में आएगा। सचाई के निकट पहुंचने में हमें बहुत सुविधा होगी। तुलनात्मक अध्ययन का अर्थ है—सत्य के अनेक मार्गों का व्यापक अवबोध। यह अवबोध ही सत्य की सही समझ का प्रशस्त पथ है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

परमात्मा है, या नहीं—यह बात आदमी के सामने प्रत्यक्ष नहीं है। इस बात को शास्त्रों के आधार पर ही समझा जा सकता है, पर वर्तमान जीवन तो सबके सामने प्रत्यक्ष है। अतः व्यक्ति को यह चिंतन करना चाहिए कि मेरा वर्तमान जीवन अच्छा कैसे बने? यद्यपि आदमी का अधिकांश समय अतीत की उधेड़-बुन में या भविष्य की कल्पना में ही बीत जाता है। वह या तो स्मृति में उलझा रहता है या फिर कल्पना के मधुर सपने देखता है। वर्तमान उसके हाथ से छूट जाता है। वह उसे पकड़ ही नहीं पाता, किंतु वास्तविकता यह है कि जो कुछ घटित होता है—वह वर्तमान में ही होता है। इसलिए आदमी अपने वर्तमान के प्रति जागरूक रहे। वर्तमान जीवन को अच्छा बनाने के लिए तीन सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं—
● स्वास्थ्य संपन्नता ● शक्ति संपन्नता ● शांति संपन्नता।

आदमी के पास सबकुछ है—ज्ञानशक्ति है, चिंतनशक्ति है, कर्मशक्ति है। वह विकास की अनंत संभावनाओं को उजागर कर सकता है—यदि अपनी इन शक्तियों को जागरूकता के साथ सही दिशा में नियोजित करे। शक्ति-संपन्न व्यक्ति वर्तमान में जीना जानता है, क्योंकि उसे अपनी क्षमताओं पर विश्वास होता है। जो व्यक्ति शक्ति, श्रम, समय और सोच के साथ कार्य संपादित करता है, वह अपने जीवन को सार्थक कर सकता है। इसलिए शक्ति-संपन्न होना जरूरी है।

प्रत्येक आदमी शांति से जीना चाहता है। शांति आत्मस्थ होती है, परस्थ नहीं। शांति कोई दूसरा नहीं दे सकता। इन भौतिक पदार्थों में सुख और शांति का जो अनुभव होता है, वह क्षणिक है, संयोग-जन्य है। संयोग-जन्य सुख या शांति का वियोग अवश्यंभावी है। भगवान महावीर ने कहा है—'**जत्थ जत्थ संयोगा तत्थ तत्थ वियोगा।**'—इसलिए आदमी अपने भीतर की ओर झांकने का प्रयास करे। वस्तुतः उसे तभी शांति उपलब्ध हो सकती है।

—आचार्यश्री महाश्रमण

प्रसंग

हमारी धरोहर ही शक्ति

अक्टूबर (2012) माह के आखिर में मानव संसाधन विकास मंत्रालय का कार्यभार श्री एम.एम. पल्लमराजू ने सम्हाल लिया है। उन्होंने तिरुपति बालाजी की परंपरागत पूजा के बाद अपना काम सम्हाला और इसके साथ ही पत्रकारों से जो कहा, वह विमर्शनीय है। खास कर उन लोगों के लिए जो अपने परिवेश को दरकिनार कर तथाकथित आधुनिकता की चपेट में आ गए हैं। मंत्रीजी ने कहा—'हमारी धरोहर ही हमारी शक्ति है। जरूरी है कि हमारी धरोहर के मूल्यों को पुनर्जीवित किया जाए और नई पीढ़ी को इससे नए सिरे से अवगत कराया जाए ताकि यह हमारी शिक्षा-व्यवस्था का मूलभूत अंग बन सके।' हम जानते हैं कि शिक्षा का उत्तरदायित्व 'मानव संसाधन विकास मंत्रालय' के पास है और श्री पल्लमराजू मानते हैं कि बच्चों की शिक्षा में माता-पिता और गुरु की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। उनके मुताबिक माता-पिता व गुरु की यह भूमिका और ऐसी परंपरा घट रही है। वे कहते हैं—'हमें इसे पुनर्जीवित करना होगा।'—मानव संसाधन विकास मंत्री यह भी मानते हैं कि प्रौद्योगिकी ने विद्यार्थियों का ध्यान भंग किया है। वे यह भी मानते हैं कि इसका इस्तेमाल नैतिक मूल्यों को विकसित करने में किया जा सकता है।

अपने मंत्रालय को सम्हालने के साथ ही श्री पल्लमराजू ने यह जो कहा है, उसे—'आगाज तो अच्छा है' की श्रेणी में रख सकते हैं और जो लोग उनके इस मत से सहमत हों, उन्हें केंद्रीय शिक्षामंत्रीजी के मंतव्य को मजबूती देनी चाहिए। तेरापंथ के ग्यारहवें अनुशास्ता आचार्यश्री महाश्रमणजी से कौन परिचित नहीं है। उनके लाखों अनुयाइयों में से ऐसे अनुयाई भी हैं, जिनकी गणना देश के प्रमुख लोगों में होती है। आज उन पर यह दायित्व आ गया है कि श्री पल्लमराजू ने जो कुछ कहा है, उसे अमली-जामा दिया जाए। यह कैसे हो सकता है; इसका उत्तर इतना ही है कि—दृढ़ इच्छा-शक्ति के आगे असंभव कुछ भी नहीं है। जहां तक विचार की पृष्ठभूमि और मजबूत वैचारिक आधार की बात है, वह भारत की चेतना में व्याप्त है।

श्री पल्लमराजू ने सही ही कहा है कि प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल नैतिक मूल्यों को विकसित करने में किया जा सकता है। इसी बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में एक मनीषी संत हुए हैं—आचार्यश्री महाप्रज्ञजी। वे तेरापंथ धर्मसंघ के दसवें अधिष्ठाता रहे हैं। उन्होंने विज्ञान और अध्यात्म की जो संयुति दी है, उसे समझने की जरूरत है। यदि हम आज के संदर्भ में अपने नैतिक मूल्यों, अपनी धरोहर और अपनी परंपरा की बात करते हैं, तो हमें अध्यात्म और विज्ञान की बारीकियों को खंगालना होगा। हम सभी जानते हैं कि भारतीय जनमानस की अपनी इयत्ता रही है। अध्यात्म उसके लिए सर्वोच्च रहा है। सब जानते हैं कि इच्छाएं अनंत होती हैं और ज्यों-ज्यों उनको पूरा करने का उपक्रम होता है, त्यों-त्यों वे लालसा में तबदील हो जाती हैं और लालसा कभी किसी की पूरी नहीं हो सकती। महात्मा गांधी का तो यह प्रचलित और बहुश्रुत वाक्य है—'यह धरती सबका पेट भर सकती है, पर किसी एक का भी लालच पूरा नहीं कर सकती।' गांधी के इस कथन के परिप्रेक्ष्य में ही यदि हम विज्ञान और अध्यात्म को सम्मुख रखेंगे और इसे अपनी रीति-नीति का हिस्सा बना लेंगे, तो निश्चय ही हमें वह रास्ता मिल जाएगा, जिस ओर हमारे शिक्षामंत्री श्री पल्लमराजू ने संकेत किया है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी का संबंध आज आध्यात्मिकता से नहीं है। ये 'बाजार' की चेरी हैं। जो कुछ 'बाजार' चाहता है, वही विज्ञान और प्रौद्योगिकी से निकलता है। भोग-विलास और उसके वे सभी साधन बाजार में अटे पड़े हैं। इससे विलासिता में ही इजाफा नहीं हुआ है, सामाजिक विषमता, असंतुलन और वैमनस्य भी बढ़ा है। इसी से छीना-झपटी, हिंसा और अंततः आतंकवाद के विषदंत बढ़े हैं। विज्ञान और अध्यात्म की संयुति से ये विषदंत बेअसर हो सकते हैं।

हम अकसर नैतिक मूल्यों की बात करते हैं। अपने जीवन और क्रिया-कलापों में घोर अनैतिक व्यक्ति भी नैतिकता का

पाठ पढ़ा देता है। 'नैतिकता' शब्द की क्षमता और सामर्थ्य भी ऐसी ही बातों से क्षीण हुए हैं। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना कठिनतर है। केवल वाचिक स्तर पर किसी भी तरह के प्रयत्न असरदार नहीं हो सकते। बल्कि, नैतिक-शिक्षा की बात करना भी बेमानी-सा लग रहा है। फिर यह कैसे हो?

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने जीवन-विज्ञान और प्रेक्षाध्यान की दो विधियां भी दी हैं। इनको शिक्षा का मजबूत आधार यदि मिले, तो शिक्षा तो मजबूत होगी ही, हमारे केंद्रीय शिक्षामंत्री के इरादे भी सफल होंगे।

ऐसा कैसे हो सकता है? सब जानते हैं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी एक धर्म-संप्रदाय के प्रमुख थे। पर, यह भी सब जानते हैं कि संकीर्णता, धार्मिक कठमुल्लापन और बाड़ाबंदी से वे सर्वथा मुक्त थे। मुक्त तो थे ही, ऐसी किसी सोच को किसी तरह का प्रश्रय न उन्होंने दिया और न ऐसी कोई अपेक्षा रही। भारतीय परंपरा और संस्कृति तो यह मानती ही रही है कि 'विचार' कभी भी दायरों में आबद्ध नहीं होते। अतः अध्यात्म और विज्ञान, जीवन-विज्ञान और प्रेक्षाध्यान की जो विधियां और सिद्धांत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने दिए हैं, उनको 'दायरों' में जकड़ कर नहीं देखा जाना चाहिए। इस देश के मनीषी, सिद्धांतकार और प्रज्ञापुरुष ऐसा नहीं करते।

राजनीति और सामाजिक क्षेत्र के नियंताओं के लिए मार्ग इसी से खुलता है। श्री पल्लमराजू सचमुच ऐसा चाहते हैं, हमें यह मानना चाहिए। और, इसके लिए इसी भारतभूमि पर काम हुआ है, उनके मंत्रालय को उसे देखना चाहिए।

देखना चाहिए कि 'कथनी और करनी' के अंतर को मिटाने में विवेकसम्मत दृष्टिकोण ही उपादेय होता है।

—शुभू पटवा

[अब बस

जैन भारती का दायित्व इन हाथों में सन् 1999 के शुरुआती महीनों से लगातार चला आ रहा है। सन् 1999 से लेकर सन् 2012 की अवधि तक का लगभग तेरह साल का सफर कम नहीं होता। **जैन भारती** के अब तक के संपादकों में यह अवधि संभवतः सर्वाधिक है, पर ऐसा कैसे संभव हुआ? मेरे संपादन के पहले अंक (जुलाई 1999 के प्रसंग में) में मैंने बता दिया था कि अनेक विकल्प प्रस्तुत करने के बावजूद आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की स्पष्ट और एकाक्ष दृष्टि यही रही और मुझे आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ी। हां, मैंने यह निवेदन अवश्य किया कि एक साल के लिए यह दायित्व स्वीकार करता हूं। साल बीतने को था कि तारानगर (राजस्थान) में मैंने स्मरण कराया और मुक्त होने का आग्रह किया। मुझे कहा गया कि अपना विकल्प बता दो, मुक्त हो जाओ। मैं यह विकल्प कहां से बताता? क्रम जारी रहा। इस बीच मेरे पास एक पत्र प्रो. दयाकृष्ण का आया। वे **जैन भारती** के नियमित पाठक ही नहीं हुए, हमारे मान्य लेखक भी थे। प्रो. दयाकृष्ण भारत ही नहीं, दुनियां के जाने-माने दर्शनशास्त्री रहे हैं। उनने लिखा कि **जैन भारती** का हर अंक पहले से अधिक बेहतर होता है, ऐसा तुम कब तक निबाह सकोंगे? उनकी अगली पंक्ति थी—तुम पर तो आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की कृपा है, तुम यह काम करते रहोगे, निभा लोगे। और, इस तरह तेरह साल की अवधि निकल गई। **जैन भारती** के प्रसंग में अनेक प्रशंसा पत्र आए हैं, आते रहे हैं, पर उनको छापना मुनासिब नहीं समझा। वे सभी पत्र मेरी निधि हैं।

मैंने अपने पहले प्रसंग (संपादकीय) में कहा था कि—'मेरा संपादक होना, आखिर क्यों? किस उद्देश्य से?' तब यह भी कहा गया था कि अपनी दृढ़ आचारशीलता में रहते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अतिक्रमण के स्वभावी हैं। एक धर्म-संप्रदाय के अधिष्ठाता होते हुए भी वे उसकी जकड़बंदी से मुक्त हैं। यह कथन **जैन भारती** ही नहीं, उनकी समस्त कार्य-विधि, चिंतन व साहित्य से सच साबित होता है। **जैन भारती** ने भी संकीर्ण दायरों से ऊपर उठ 'सात्त्विक जन रुचि' की पत्रिका बनने की कोशिश की। **जैन भारती** ने अपने मूल स्वरूप को यथावत रखते हुए सदा ऐसी सामग्री प्रस्तुत की जो हर पाठक वर्ग—सामान्य, मध्यम व उच्च विद्वत वर्ग—के लिए पठनीय हो। **जैन भारती** का प्रयास रहा कि इसके माध्यम से संस्कारशील, रचनात्मक और सुरुचिपूर्ण समाज स्थापित हो।

इसी बीच आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की पार्थिव देह का अवसान हो गया। अवसान से एक माह बीतते-बीतते जून 2010 में यह संपादक उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाश्रमणजी के समक्ष स्वेच्छापूर्वक उपस्थित हुआ। प्रयोजन एक ही था कि वे निशंक संपादकीय दायित्व पर निर्णय लें। अपने दायित्वों के समर्पण का अनुरोध उन्होंने सुना भर और **जैन भारती** की वर्तमान रीति-नीति में बिना रद्दो-बदल के इस दायित्व को यथावत रख दिया। मुझे लगा कि यह मौका भी हाथ से गया। पर, मौका कभी हाथ आता भी है। मैं इस बार सफल रहा और श्रद्धेय आचार्यश्री महाश्रमणजी के इंगित पर ही दिसंबर, 2012 के बाद **जैन भारती** के दायित्व से स्वेच्छया मुक्त हो रहा हूं।

इस पूरी अवधि में तेरापंथ के दोनों आचार्यप्रवरों (आ. श्री महाप्रज्ञजी व आचार्यश्री महाश्रमणजी), **जैन भारती** के सुधी लेखकों (साधु-साध्वियों सहित) का सहयोग **जैन भारती** के लिए भरपूर रहा। **जैन भारती** कार्यालय के भाई शिव ओझा का साधुवाद मुझे इसलिए करना चाहिए कि न केवल वे मेरे सहयोगी रहे, प्रशासकीय कामों में मुझे निर्बाध बनाए रखा। निश्चय ही यह एक दुःसाध्य कार्य था, पर मैं यह कर सका, क्योंकि मुझ पर पूज्यवरों का हाथ था। मैं **मै. सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर** का उल्लेख इसलिए आवश्यक मानता हूं कि यह प्रेस न होता तो **जैन भारती** का काम कई रूपों में जटिल हो जाता। भाई श्री दीपचंद सांखला ने न केवल मुद्रण, अपितु कई दायित्वों में मुझे सहयोग किया। उन और उनकी टीम के साथियों का साधुवाद। सचमुच मैंने पाया कि प्रेस का काम 'टीम' का काम है और इसकी अनवरतता तभी संभव है, जब भाई दीपचंद जैसा सुलझा हुआ व्यक्ति मिले। प्रो. दयाकृष्ण के पत्र की बात का जिक्र मैं अनेक बार करता रहा हूं। हर बार वह जिक्र मुझ में ताजगी भरता है। मेरा सबको नमन। इत्यलं।

—सं]

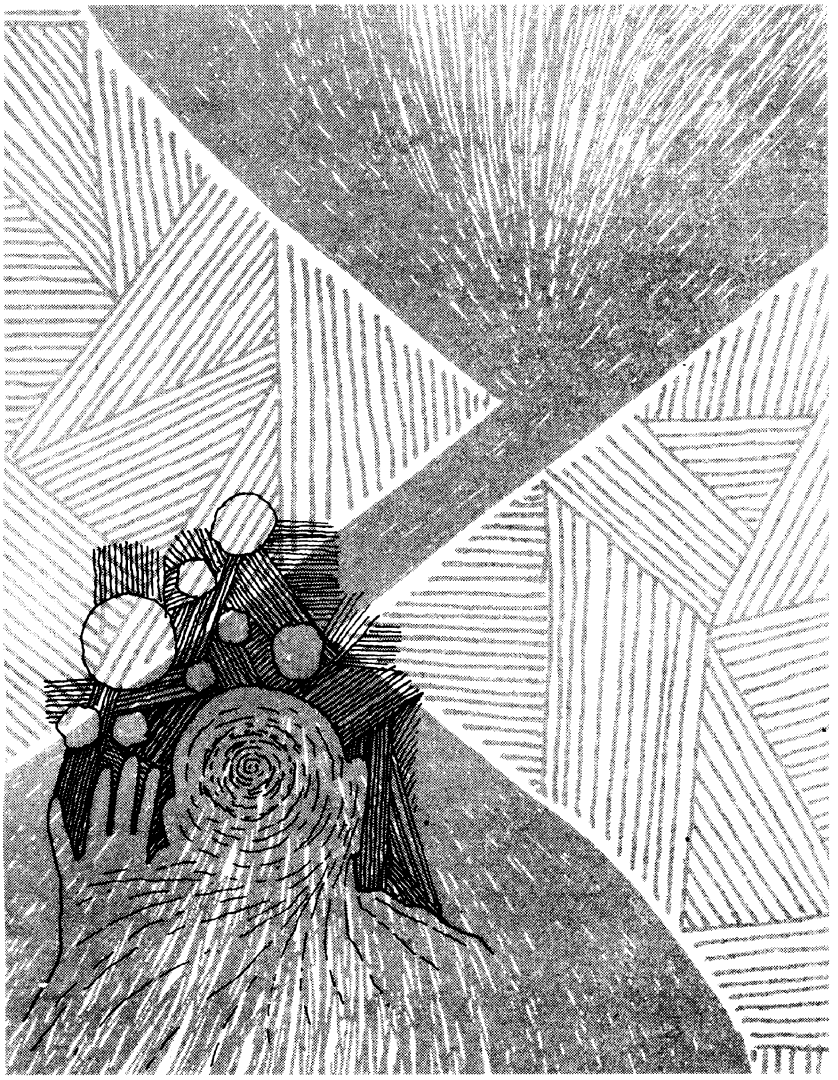

विमर्श

नित्य के व्यवहार में हमें छोटी-छोटी बातों से दुख होता है। हम तुच्छ पदार्थों के दास बने रहते हैं। दुख हमें इसलिए होता है कि हम अपने को परिमित और छोटा समझते हैं। और, फिर भी यह समझना कितना कठिन है कि हम अनंत हैं। इन सब दुखों और कठिनाइयों में साधारण बातों से हमारी शांति में भंग पड़ जाता है। हमारे लिए अपने को अनंत मानने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। और, सच्ची बात तो यह है कि चाहे ज्ञात रूप में हो या अज्ञात रूप में, हम सब उसी अनंत की जिज्ञासा में लगे हैं; हम सदा मुक्ति प्राप्त करने के उद्योग में निरत हैं।

—स्वामी विवेकानंद

अनुवाद : जगन्मोहन वर्मा

लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति इतना कैसे बदल गया? वे सचमुच ही बदल जाते हैं। कुछ लोग नहीं बदलते हैं, स्वभाव नहीं बदलता है, तो यह परामर्श दिया जाता है कि इन पर जरा जिम्मेदारी डाल दीजिए, थोड़ा बोझा डाल दो—अपने आप ही ठीक हो जाएगा। यह सलाह बहुत सारे समझदार लोग देते हैं। अपने अंतर्जगत में और बाहरी जगत में हम इस बात को अनुभव कर सकते हैं। ऐसे प्रयोग भी चलते हैं। किसी के स्वभाव में परिवर्तन की जरूरत होती है और वह नहीं होता है, तो यह प्रयोग किया जा सकता है कि उस को किसी प्रकार का दायित्व दे दिया जाए। लोग सोचते हैं कि यह व्यक्ति उसके योग्य ही नहीं है, फिर इस पर ऐसा दायित्व क्यों डाला गया? किंतु, मैं यह अनुभव करता हूं कि ऐसा व्यक्ति जिसे दायित्व का अनुभव न हो, उसमें तो परिवर्तन की संभावना नहीं की जा सकती, किंतु जिसे दायित्व की अनुभूति हो जाए—तो सचमुच उसमें परिवर्तन आने लग जाता है।

मनोविज्ञान के कारक तत्त्व और व्यक्तित्व विकास

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। कोई भी प्राणी या कोई भी मनुष्य नितांत वैयक्तिक नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति का कोई ऐसा आवरण होता, जिसमें से छन कर कोई दूसरी चीज उसमें संक्रांत न हो तो व्यक्ति शुद्ध अर्थ में व्यक्ति रहता। किंतु, ऐसा कोई आवरण भी नहीं है। ऐसा कोई कवच नहीं है, जिसे भेद कर बाहर की कोई भी चीज आए। इसलिए कोई भी व्यक्ति शुद्ध अर्थ में व्यक्ति नहीं है। हर व्यक्ति समाज है। समाज-समुदाय है। उस पर दूसरों का प्रभाव पड़ता है। परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, वातावरण का प्रभाव पड़ता है, परंपरा का प्रभाव पड़ता है, सिद्धांत का प्रभाव पड़ता है, वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है और शरीर-रचना का प्रभाव पड़ता है। ये सारे प्रभाव मनुष्य पर पड़ते हैं और इनसे प्रभावित होकर वह अपने जीवन को चलाता है।

हम जिसे मनुष्य का चरित्र कहते हैं, वह चरित्र क्या है? इन सारे प्रभावों, मस्तिष्क पर पड़ने वाले सारे विचार-प्रतिबिंबों द्वारा उसकी जिस वृत्ति का निर्माण होता है—वह चरित्र है।

मनोविज्ञान ने चरित्र-निर्माण का विश्लेषण किया है, उसके कारणों पर विचार किया है। उसके अनुसार मनुष्य में दो प्रकार के गुण माने गए हैं—(1) मौलिक मनोवृत्ति और (2) अर्जित स्वभाव या आदतें। कुछ मनोवृत्तियां ऐसी हैं, जो प्राणी में मौलिक होती हैं। न केवल मनुष्य में, बल्कि हर प्राणी में मौलिक वृत्तियां होती हैं। वे किसी बाहर के प्रभाव से नहीं आतीं, जैसे—भूख। भूख मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। हर प्राणी की मौलिक मनोवृत्ति होती है। हर प्राणी कुछ-न-कुछ खाता ही है। इसी तरह आपसी झगड़ा या मन मुटाव भी होता

है—यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। लड़ना-झगड़ना और संघर्ष करना भी मौलिक मनोवृत्ति होती है। काम-वासना भी मौलिक मनोवृत्ति है। ये कुछ मौलिक मनोवृत्तियां हैं, जो मनुष्य में सहज ही पाई जाती हैं। ये बाहर से नहीं आतीं, अर्जित नहीं होतीं। पर, कुछ अर्जित होती हैं और उन्हीं को हम चरित्र कहते हैं, आदत या स्वभाव कहते हैं। उनके अर्जन में अनेक सिद्धांत काम करते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार अर्जित आदतों को तीन भागों में बांटा जा सकता है। पहली, प्रथम श्रेणी की आदतें, जो साधारण आदतें होती हैं और उससे चरित्र का निर्माण होता है—जैसे भय और प्रलोभन। मनुष्य के चरित्र-निर्माण में भय और प्रलोभन का बहुत बड़ा स्थान है। बच्चा कोई काम करना नहीं चाहता, स्कूल जाना नहीं चाहता। माता कहती है—'बेटा, स्कूल चले जाओ', उत्तर मिलता है—'नहीं जाऊंगा।'—'यह लो आठ आना'—बेटा स्कूल चला जाता है। आठ आना में स्कूल जाना हो गया। बच्चा कोई काम करना चाहता है और माता चाहती है कि वह यह काम न करे। मानता नहीं है। भय दिखाया—'उधर मत जाओ, हौआ है।'—बच्चा डर गया, फिर वैसा काम नहीं करता।

भय और प्रलोभन—ये दोनों बहुत काम करते हैं। आप केवल बच्चे के लिए ही न सोचिए। हर आदमी के लिए यह भय काम करता है। हम लोग भगवान महावीर में विश्वास करते हैं, आत्म-कर्तृत्व में विश्वास करते हैं, आत्मा में विश्वास करते हैं। तब फिर जगह-जगह क्यों भटका जाए? चूंकि आपको डर रहता ही है और मनौती मनाते ही हैं। अगर देवता की मनौती नहीं मनाई जाए, तो न जाने क्या हो जाएगा? बीमारी हो जाएगी या कोई उपद्रव हो जाएगा। यह भय आपको वहां ले जाता है और मनौती मनाते हैं। भय के कारण बहुत सारे काम करते हैं। जो लोग काम नहीं भी करना चाहते, वे भी भय के कारण करते हैं और मैं समझता हूं कि बहुत सारे लोग धर्म भी भय के कारण ही करते हैं। वे इसलिए धर्म करते हैं कि अगर न किया तो परलोक बिगड़ जाएगा। नरक मिलेगा। कष्ट भुगतने होंगे। निरंतर वेदना, अनंत भूख, अनंत प्यास, अनंत सर्दी, अनंत गर्मी—ये सारी बातें सहन करनी होंगी। मन में यह भय है, इसलिए चाहते हैं कि धर्म करो।

मन में प्रलोभन है कि धर्म करेंगे तो स्वर्ण मिलेगा। बड़े प्रासाद, ऐश्वर्य और आराम, सुख और शक्ति, वैभव और आनंद—यही प्रलोभन सबको धर्म की ओर आकृष्ट करता है और यही भय हमें अधर्म से भी बचाता है तथा धर्म की ओर आकृष्ट करता है। मैं समझता हूं कि यदि आज धर्म के साथ यह भय और प्रलोभन की बात छूट जाए, तो पीछे क्या बचेगा? क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि भय और प्रलोभन—ये दोनों मिट जाएं तो पीछे धार्मिक लोग कितने बचेंगे? कहना कठिन है। दुनिया के अधिकांश लोगों में जो धर्म चल रहा है, वह भय और प्रलोभन—इन दो आकर्षणों से ही चल रहा है। ये दोनों धर्म के गुरुत्वाकर्षण हैं, जो आमजन को अपनी ओर खींच रहे हैं। यह गुरुत्वाकर्षण समाप्त हो जाए, तो शायद मनुष्य का धर्म के प्रति आकर्षण भी कम हो जाएगा।

हमारे चरित्र-निर्माण में भी भय और प्रलोभन का बहुत बड़ा स्थान रहता है और यह अस्वाभाविक नहीं है। बहुत सारे लोग खाने में रुचि लेने वाले होते हैं। लोलुपता भी कह सकता हूं, पर वे अमुक-अमुक चीजें नहीं खाते। क्यों नहीं खाते? इसलिए कि स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा। वे इसलिए खाना नहीं छोड़ते कि खाना छोड़ने में उनकी दृष्टि किसी परमार्थ की है, किंतु इसलिए छोड़ रहे हैं कि स्वास्थ्य खराब हो जाएगा। उन्हें स्वास्थ्य के बिगड़ने का भय है। जैसे, मिर्च नहीं खाना है। मिर्च नहीं खाने का मन पर क्या असर होता है, इसलिए मिर्च छोड़ने वाले कम मिलेंगे और मिर्च खाने से पेट पर, पेट की क्रिया पर, पाचन क्रिया पर असर हो जाता है—इस दृष्टि से मिर्च को छोड़ने वाले ज्यादा मिलेंगे। इस प्रकार कह सकते हैं कि प्रलोभन और भय से भी हमारे आचरण का निर्माण होता है।

मनुष्य के चरित्र-निर्माण में भय और प्रलोभन का बहुत बड़ा स्थान रहा है और रहेगा। इसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। अगर यह मिट जाए तो दो बातें हो सकती हैं—या तो मनुष्य पूरा पशुता की ओर चला जाएगा या फिर पूरा परमार्थ की ओर चला जाएगा। फिर बीच की स्थिति नहीं रहेगी। भय और प्रलोभन की स्थिति तब समाप्त होगी, जब समाज में परमार्थ की दृष्टि इतनी विकसित हो जाएगी कि हर आदमी परमार्थ को ही सामने रख कर काम

करे। फिर भय और प्रलोभन की जरूरत नहीं रहेगी। या मनुष्य पशुता की ओर चला जाए, इतना मूर्च्छा में चला जाए कि फिर उसे भय और प्रलोभन की जरूरत ही न रहे। ये दो स्थितियां हैं। एक वह छोर है—जहां मनुष्यता का पूरा पतन होता है और एक वह छोर है—जहां मनुष्यता का पूरा-पूरा विकास होने की उम्मीद होती है। इस समय हम देखते हैं कि चरित्र का जो निर्माण होता है, वह भय और प्रलोभन के आधार पर ही होता है।

दूसरी स्थिति है—प्रशंसा और निंदा की। यह भी हमारे चरित्र-निर्माण में सहायक बनती है। मैंने एक काम किया और अन्यों ने उसका समर्थन कर दिया, अनुमोदन कर दिया—तो मैं चाहूंगा कि वैसा काम फिर करूं। मेरा ऐसा स्वभाव बन जाएगा और मैं बार-बार उसे दोहराना चाहूंगा, करना चाहूंगा। मैंने कोई काम किया और पहली बार में ही टोक दिया गया कि तुमने अच्छा नहीं किया—बस, वहीं स्थिति समाप्त हो जाएगी। फिर वह नहीं होगा। तो, हमारे करने में, हमारे स्वभाव के निर्माण में इनका भी बहुत बड़ा स्थान है कि जिस काम के करने से प्रशंसा मिलती है, समर्थन मिलता है, अनुमोदन मिलता है और दूसरों का बल मिलता है—वह काम करना मैं पसंद करूंगा और उस काम से बचना चाहूंगा जिस काम के करने पर निंदा होती है, दूसरे लोग बुरा मानते हैं, अपयश होता है।

अगर किसी को पूंजीवादी कहा जाए तो वह कतराएगा, क्योंकि पूंजीवाद के प्रति घृणा या निंदा का भाव है। इसी तरह जो सर्वथा 'डिक्टेटर' हैं, वे भी अपने को लोकतंत्री कहलाना पसंद करते हैं। वे नहीं चाहते कि एक अधिनायकवादी के रूप में दुनिया के सामने उनका चेहरा प्रस्तुत हो। क्योंकि अधिनायकवाद एक प्रकार से कालिख है। निंदा और प्रशंसा के दृष्टिकोणों के आधार पर मैं आपसे कहना चाहता हूं कि मनुष्य के चरित्र-निर्माण में इनका भी बहुत बड़ा योग रहता है।

सुख और दुख भी चरित्र-निर्माण में बहुत सहायक बनते हैं। आग की ओर हाथ बढ़ाया—ताप लगा, अच्छा नहीं लगा। हाथ को खींच लिया जाता है। पानी पीया—अच्छा लगा और पानी पीने लग जाते हैं। कोई बात माता-पिता से कही—मां-बाप ने पीठ थपथपाई, प्रोत्साहन दिया—बड़ा आराम मिला, सुख मिला और वैसा काम फिर करने की उत्सुकता जग जाएगी। कोई आचरण किया और मन को प्रसन्नता मिली—वैसा काम फिर से करने लगेंगे। ठीक इसी तरह आंख पर पट्टी बांध कर चले, लड़खड़ा गए, या चोट खा ली—फिर वैसा काम नहीं करेंगे। इस प्रकार भय और प्रलोभन, प्रशंसा और निंदा, सुख और दुख—ये तीनों युगल हैं। एक ही श्रेणी के, एक ही कक्षा के हैं—जो मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करते हैं। बहुत से लोगों का चरित्र इनसे प्रभावित होता है। सामान्य लोगों का तो अकसर ही होता है। इन्हीं बातों के आधार पर बनना, बिगड़ना, चलना होता है और ठुकरा देना होता है।

इसी क्रम में एक दूसरी भूमिका भी आती है—वह है कर्तव्य की भूमिका, दायित्व की भूमिका। जिन लोगों में दायित्व की चेतना जागृत हो जाती है, वे व्यक्ति ऐसी बातों से ऊपर उठ जाते हैं। वे अपने चरित्र का निर्माण दायित्व के आधार पर करते हैं। उन्हें दायित्व की अनुभूति हो जाती है और वे अपने चरित्र को उसी तरह विकसित करते हैं। आप अनुभव करते होंगे कि बहुत सारे लोग चंचल होते हैं, बहुत नटखट होते हैं, उनका आचरण भी अच्छा नहीं होता, किंतु जब वे किसी दायित्व के पद पर आ जाते हैं और दायित्व का अनुभव कर लेते हैं—तो उनके चरित्र में अंतर पड़ जाता है। लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति इतना कैसे बदल गया? वे सचमुच ही बदल जाते हैं। कुछ लोग नहीं बदलते हैं, स्वभाव नहीं बदलता है, तो यह परामर्श दिया जाता है कि इन पर जरा जिम्मेदारी डाल दीजिए, थोड़ा बोझा डाल दो—अपने आप ही ठीक हो जाएगा। यह सलाह बहुत सारे समझदार लोग देते हैं। अपने अंतर्जगत में और बाहरी जगत में हम इस बात को अनुभव कर सकते हैं। ऐसे प्रयोग भी चलते हैं। किसी के स्वभाव में परिवर्तन की जरूरत होती है और वह नहीं होता है, तो यह प्रयोग किया जा सकता है कि उस को किसी प्रकार का दायित्व दे दिया जाए। लोग सोचते हैं कि यह व्यक्ति उसके योग्य ही नहीं है, फिर इस पर ऐसा दायित्व क्यों डाला गया? किंतु, मैं यह अनुभव करता हूं कि ऐसा व्यक्ति जिसे दायित्व का अनुभव न हो, उसमें तो परिवर्तन की संभावना नहीं की जा सकती, किंतु

जिसे दायित्व की अनुभूति हो जाए—तो सचमुच उसमें परिवर्तन आने लग जाता है। इस प्रकार चरित्र-निर्माण की इस दूसरी श्रेणी का हेतु है—दायित्व-बोध।

इससे आगे की तीसरी श्रेणी है—धर्म-बोध। धार्मिक चेतना का जागरण—यानी विवेक का जागरण। जो व्यक्ति इस प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने चरित्र का निर्माण करता है, वह उच्चतम कक्षा का चरित्र-निर्माण करता है। भय और प्रलोभन के आधार पर प्रथम कक्षा का चरित्र-निर्माण, दायित्व-बोध से होने वाला मध्यम कक्षा का चरित्र-निर्माण और धर्म-बोध से, धार्मिक चेतना के जागरण से या परमार्थ की चेतना से होने वाला चरित्र-निर्माण उच्चतम कक्षा का चरित्र-निर्माण होता है।

एक बार यमन के एक शासक से मुहम्मद साहब ने पूछा—'तुम यमन के शासक बने हो, तुम्हारे सामने बहुत सारे अभियोग आएंगे और तुम्हें फैसला करना होगा। बताओ, तुम किस आधार पर निर्णय करोगे?'—उसने कहा कि—'जो अल्लाह की पवित्र पुस्तक है—कुरान, उसके आधार पर सारे फैसले करूंगा।'—मुहम्मद साहब ने फिर पूछा—'अगर तुम्हें पवित्र पुस्तक में समाधान नहीं मिलेगा, तो बताओ फिर किस आधार पर करोगे?'—उसने कहा कि—'अगर पवित्र पुस्तक में उसका कोई रास्ता नहीं मिलेगा तो मैं पैगंबरों के कथन के आधार पर फैसला करूंगा।'—मुहम्मद साहब ने फिर पूछा कि—'अगर उनके निर्देशों में भी तुम्हें मार्गदर्शन नहीं मिला, कोई समाधान नहीं मिला, तो बताओ फैसला किस आधार पर करोगे?'—तब उसने कहा कि—'अगर पैगंबर के निर्देशों में भी मुझे कोई मार्ग नहीं मिला, तो फिर मैं अपने विवेक के आधार पर फैसला दूंगा।' यह है—विवेक का जागरण। जो व्यक्ति विवेक को साथ लेकर चलता है, विवेक-चेतना को जागृत करके चलता है—उसके चरित्र का निर्माण विवेक के आधार पर होता है और यह उच्चतम भूमिका की बात है। हमारी धार्मिक चेतना को जागृत करना विवेक को ही जागृत करना है।

अलबत्ता इसमें कठिनाई बहुत है। धर्म की चेतना या परमार्थ की चेतना के बारे में मतभेद भी बहुत रहे हैं। एक ऋषि कहता है कि हम कैसे यह निर्णय करें कि हमारा आचरण ही सही है और अन्यों का गलत है? धर्म और अधर्म स्वयं आकर हमें नहीं कहते कि 'मैं धर्म हूं' और 'मैं अधर्म हूं'। ऐसा हो जाए तो मनुष्य को कोई कठिनाई नहीं होगी। देवता, गंधर्व आदि कोई आकर यह नहीं कहता कि यह धर्म है और यह अधर्म है। तो फिर निर्णय किस आधार पर करें? अत: विवेक ही आधार है। सुकरात को जहर की प्याली दी जा रही थी। सारे मित्र, प्रशंसक, भक्त और समर्थक रूआंसे हो रहे थे, आकुल-व्याकुल हो रहे थे। वे घबराए हुए बोले—'गुरुदेव! यह क्या हो रहा है? अभी आप हमारे सामने हैं, दो क्षण में आप मर जाएंगे। बहुत बड़ा अनर्थ हो जाएगा।'—पर, सुकरात अविचल थे। मन में कोई प्रकंपन नहीं था, कोई भय नहीं था, कोई वेदना नहीं थी। शांत भाव से बैठे थे। भक्तों ने जब बार-बार यह कहा तो सुकरात बोले—'क्यों घबराते हो? तुम्हें कष्ट क्यों हो रहा है? तुम जानते हो कि इस दुनिया में कुछ लोग नास्तिक हैं और कुछ लोग आस्तिक हैं। जो नास्तिक हैं, वे कहते हैं कि आत्मा नहीं है। जब आत्मा नहीं है, तो कौन मरेगा? आस्तिक कहते हैं कि—आत्मा है और वह अमर है। आत्मा अमर है, तो फिर वह मरता नहीं है। फिर चिंता क्या? नास्तिकों की बात मैं मानूं—तो मुझे कोई चिंता नहीं है, क्योंकि आत्मा है ही नहीं—तो फिर मरेगा कौन और आस्तिकों की बात मानूं—तो आत्मा अमर है, फिर मुझे चिंता ही क्या है?'

आप सुकरात के उस आचरण का विश्लेषण करें। उसके चरित्र का विश्लेषण करें। उसका चरित्र कितना उदात्त बन गया था कि मृत्यु के झोंके सामने आ रहे हैं और वह बिलकुल अभय होकर बैठा है। मौत के नगाड़े बज रहे हैं और सुकरात शांत होकर बैठा है। लगता है कि वह जहर नहीं पी रहा है, अमृत की प्याली पी रहा है। इतना उदात्त चरित्र किस आधार पर बना? विवेक के आधार पर बना।

ये कथाएं हमारे सामाजिक प्रभाव को दिग्दर्शित करने वाली हैं और अपने वैयक्तिक सिद्धांत की बातें है—जो हमारे चरित्र को प्रभावित करती हैं और जिनके आधार पर हमारे चरित्र का निर्माण होता है। हम जैन साहित्य को देखें और भगवान महावीर के चरित्र को लें। उनके शिष्यों के चरित्र को लें। उनका इतना विशाल और उदात्त चरित्र किस आधार पर बना? भारतवर्ष के दूसरे

संतों के चरित्र को भी लें, उनका चरित्र इतना उदात्त किस आधार पर बना? यह धर्म-चेतना और विवेक-चेतना के जागरण के आधार पर बना। मैं समझता हूं कि धर्म की चेतना ही परमार्थ की चेतना है। उसके आधार पर ही ऐसे चरित्र का निर्माण होता है।

मैं आपको एक दूसरी स्थिति पर ले आना चाहता हूं। चरित्र-निर्माण में वंशानुगत योग भी बहुत रहता है। जब विवाह-शादी करते हैं, तब देखते हैं कि घराना कैसा है? जब दीक्षा देते हैं, तो देखते हैं कि घराना कैसा है? पीछे का इतिहास क्या है? किस प्रकार के व्यक्ति इस घराने में पैदा हुए हैं? उन्होंने क्या आचरण किए हैं और क्या काम किए हैं? यह देखना बहुत महत्त्व की बात है।

इसी प्रकार बहुत-सी बीमारियां भी पैतृक होती हैं। आयुर्विज्ञान में इस विषय पर अनुसंधान चल रहे हैं। कैंसर को पैतृक बीमारी माना जाता है। हृदय रोग भी पैतृक बीमारी कही जाती है। बहुत-सी बीमारियां पैतृक होती हैं। मनुष्य के चरित्र पर इन बीमारियों का प्रभाव आ सकता है। चरित्र निर्माण में परंपरा का भी बड़ा योगदान है। जिस प्रकार के विचार की परंपरा में जन्म होता है, उसी प्रकार के चरित्र का निर्माण हो जाता है।

पर्यावरण भी चरित्र-निर्माण में योगभूत होता है। जिस प्रकार का वातावरण हमारे आसपास निरंतर बना रहता है, उसका असर चरित्र पर पड़ता है। एक बच्चे को धूम्रपान करने वाले, निंदा-चुगली करने वालों के पास छोड़ दीजिए—वह धूम्रपान करना सीख जाएगा, निंदा-चुगली करना सीख जाएगा।

इसी तरह जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग बच्चे सुनते हैं, वैसा ही प्रयोग वह करने लग जाएगा। कहा जा सकता है कि जैसा वातावरण मिलता है, उसी के अनुसार मनुष्य बन जाता है।

स्वभाव-निर्माण में शरीर की रचना का भी असर पड़ता है। जिस व्यक्ति के रीढ़ की हड्डी सीधी नहीं है, थोड़ी भी टेढ़ी-बांकी है, जटिल है—हम उससे बहुत अच्छे स्वभाव की कल्पना नहीं कर सकते। शरीर के और भी ऐसे केंद्र और स्थल हैं, जिनसे स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है।

जो लोग धार्मिक हैं, धर्म में विश्वास करने वाले हैं, विवेचना और चेतना के स्तर पर सोचते हैं और तदनुरूप काम करते हैं—वे मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों पर तो चिंतन करें ही, साथ ही स्वभावगत बातों से भी अज्ञात न रहें कि मनुष्य के स्वभाव पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है। इन सभी स्थितियों को ठीक से समझ कर, उनका मूल्यांकन कर यदि हम चरित्र-निर्माण की ओर ध्यान देंगे तो वस्तुस्थिति को सुगमता से समझ सकेंगे। ❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती

एक संपूर्ण पत्रिका है।

वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए

जैन भारती

पढ़ें—सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक

जैन भारती

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

अपरिग्रह तथा परिग्रह, दोनों सिद्धांत उड़ाऊपन के खिलाफ हैं। जिस चीज के उपभोग की आज जरूरत नहीं है, उसको भी परिग्रह न रखने की दृष्टि से खर्च कर डालना अपरिग्रह नहीं, बल्कि पदार्थों पर अत्याचार है अथवा स्वेच्छाचारिता है। इसी तरह अपने उपभोग के लिए सृष्टि के समस्त रस-कस को अधिक से अधिक खींच लेने की वृत्ति रखना मनुष्य का प्रकृति पर अत्याचार है। अपरिग्रह के सूक्ष्म अर्थ का विचार करें तो मालूम होगा कि साहूकारों की स्थापित सराफे की दुकानों पर या निजी तिजोरियों पर विश्वास रखने के बदले ईश्वर के प्राकृतिक बैंक पर विश्वास रखना अपरिग्रह का आचरण है।

परिग्रह-अपरिग्रह : कुछ चिंतनीय बिंदु

कि. घ. मशरूवाला

भगवान महावीर, बुद्ध, ईसा मसीह और मुहम्मद साहब जैसे धर्म-प्रवर्तकों ने अपरिग्रह पर बहुत जोर दिया है। एक ओर संतों ने अपरिग्रह की महिमा गाई है, तो दूसरी ओर संसार के अनुभवी लोग यह समझाते हैं कि परिग्रह-वृत्ति में ही बुद्धिमानी है। इसलिए यह सवाल पैदा होता है कि अपरिग्रह का सिद्धांत सही है या परिग्रह का।

हमें सर्वप्रथम परिग्रह और स्वामित्व के बीच का भेद समझ लेना जरूरी है। किसी चीज को जुटाना व उसे संभाल कर रखना और जब उसकी जरूरत हो, तब उसका उपभोग करना—यह परिग्रह है, किंतु इसके साथ यह भी मुमकिन हो कि निजी स्वामित्व का दावा नहीं हो, परंतु आम तौर पर मनुष्य सिर्फ इसी दृष्टि से परिग्रह नहीं करता। किसी वस्तु का संग्रह वह महज उसे संभाल कर रखने के लिए ही नहीं करता, बल्कि उस पर वह अपने स्वामित्व का भी दावा करता है। अर्थात्; वह खुद ही भविष्य में उसका उपभोग करना चाहता है, या अपने ही लोगों को करने देना चाहता है। इसके अलावा यदि दूसरे लोग विपत्ति में उसका उपभोग करना चाहें, तो भी वह उन्हें रोकने का ही भरसक प्रयत्न करता है। स्वामित्व चाहे किसी व्यक्ति का हो, कुटुंब का हो या किसी संस्था अथवा वर्ग का हो, इन सब में पदार्थ के संग्रह और रक्षण का भाव नहीं है, बल्कि स्वामित्व का भाव या दावा ही है।

इस प्रकार के मालिकाना हक रखने का नतीजा यह होता है कि किसी धनाढ्य के यहां तो आवश्यक चीजें भरी रहती हैं और पड़ी-पड़ी सड़ भी जाती हैं, किंतु अभाव के समय दूसरे असंख्य लोग बेहाल रहते हैं। वे भूखों मरते हैं और जाड़े में ठिठुरते भी हैं। अकसर देखा जाता है कि करोड़पति अरबपति बनना चाहता है, तो भी उसे संतोष नहीं होता। इधर कंगाल भी करोड़पति होना चाहता है। कंगाल को पेट-पुरता ही मिलने से संतोष होता दिखाई नहीं देता।

इसके बाद जैसा कि हमने स्वामित्व व परिग्रह संबंधी भेद को देखा, वैसे ही हमें परिग्रह के प्रकार-भेद को भी समझ लेना चाहिए।

हम चाहे परिग्रह के सिद्धांत को मानते हों, चाहे अपरिग्रह का व्रत धारण किए हों, यदि पदार्थों के विषय में हमारी आदतें निश्चित हो गई हों, तो उनके संबंध में हमारी नीति एक ही रहती है और वह यह कि ये पदार्थ

जिस तरह ज्यादा समय तक अच्छी हालत में रखे जा सकें, उसी तरह रख कर सावधानी से उनका उपयोग करना। घरों में और संस्थाओं में भी कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जो चीज वे इस्तेमाल के लिए लेते हैं, उसे फिर संभाल कर उसकी जगह नहीं रखते। इस आदत को हम अच्छी नहीं समझते, बल्कि लापरवाही कहते हैं। बड़े-बड़े संत भी, जो अपरिग्रह-व्रत का पालन बड़ी कठोरता से करते हैं, इस आदत को बुरी ही कहते हैं। इस्लाम में कहीं पढ़ा है कि हजरत मुहम्मद ने इस बात पर बड़ा जोर दिया है कि चीजों का उपयोग हाथ रोक कर ही करना चाहिए। दूसरी तरफ से अपरिग्रह-व्रत का आदर्श इस्लाम में जिस तरह वर्णित है, उस तरह दूसरे धर्मों में शायद ही हो।

हमें एक और प्रकार के संग्रह का विचार भी करना चाहिए। सोना, चांदी आदि धातुओं तथा हीरा, माणिक आदि का संग्रह तीसरे प्रकार का परिग्रह है। वर्षों तक पड़े रहकर भी ये पदार्थ बहुत कम काम में लाए जाते हैं। गहने, बरतन या औजारों के रूप में ही ये काम में आ सकते हैं। किंतु, ये चीजें पड़े-पड़े बिगड़तीं नहीं। जहां इनका मालिकाना हक मान लिया जाता है, वहां ये भी मूल्यवान हो जाती हैं। फर्ज कीजिए कि मेरे पास दस मन अनाज है। मैं समझता हूं कि शायद मुझे उसकी जरूरत न पड़े। इसे मैं अपनी निजी संपत्ति समझता हूं। और, आपको इसकी जरूरत है, लेकिन आपके पास सोना-चांदी का संग्रह है। आप भी उसे अपनी निजी चीज समझते हैं। मेरा संग्रह आपके संग्रह की अपेक्षा अधिक नाशवान है। यदि मैं अपने गल्ले को न निकालूं, तो उसके ख़राब हो जाने का अंदेशा भी है। अब यदि स्वामित्व का खयाल मेरे मन में न हो, तो मैं आपसे कहूंगा कि मेरा यह अनाज खराब हो जाएगा। फिर या तो मुझे उसे जलाना पड़ेगा, या फेंकना या गाड़ना पड़ेगा। अतएव यदि आप इसे ले जाएं, तो मुझ पर बड़ी मेहरबानी होगी। परंतु, चूंकि मुझमें स्वामित्व का भाव है, मैं ऐसा नहीं करता। बल्कि मैं कहता हूं कि यह अनाज मेरा है, कोई इसे छू नहीं सकता। अगर मैं इसकी संभाल नहीं कर सकता, तो मैं इसे जला डालूंगा, या जमीन में गाड़ दूंगा। यदि आपको इसकी जरूरत है तो आप अपना सोना-चांदी इसके बदले में दीजिए, तो मैं सोचूंगा। क्योंकि आप खुद भी ऐसे ही मालिकाना हक को मानते हैं। इससे मेरी इस बात में आपको कोई अनौचित्य नहीं दिखाई देता।

इस तरह यह स्थिति संसार-व्यवहार का नियम बन गई है। यदि स्वामित्व का अधिकार और उससे उत्पन्न देन-लेन का व्यवहार न हो, लेकिन सिर्फ परिग्रह या संग्रह की ही भावना हो, तो मनुष्य घर, अनाज, कपड़े, बरतन आदि को संभाल कर रखें, एहतियात से काम में लें और उसे बिगड़ने न दें। फिर भी वे सोना-चांदी या सिक्के या पाटों से भंडार नहीं भरेंगे। देन-लेन के व्यवहार के बिना इन चीजों की खपत बहुत कम ही होती है।

इस प्रकार परिग्रह में दो भाव मिले हुए हैं—भविष्य की आवश्यकता के लिए संग्रह और हिफाजत तथा स्वामित्व का हक। श्रेयार्थी की दृष्टि से इन दोनों में भेद रहता है।

अब एक और दृष्टि से भी हमें परिग्रह का विचार करने की आवश्यकता है।

परिग्रह के जो प्रकार बताए गए हैं, वे थोड़े या ज्यादा समय में नष्ट हो जाने वाली, किंतु बाह्य संपत्ति के ही हैं। वह संपत्ति ऐसी है कि परिग्रही स्वयं उसका उपभोग न कर सके, तो दूसरे कर सकते हैं। परिग्रही यदि मर जाय तो उससे परिग्रह का नाश नहीं हो जाता।

किंतु, इस बाह्य संपत्ति के अलावा मनुष्य के पास दूसरी संपत्ति भी होती है और वह भी उसके निर्वाह-साधन में उतनी ही सहायक होती है, जितनी कि बाह्य संपत्ति। यह है उसका शारीरिक बल, बुद्धि, विद्या, चारित्र्य आदि। ऐसी कोई भी विशेषता जिसके पास होती है, उसे उस अंश तक उस बाह्य संपत्ति के संग्रह का महत्त्व कम मालूम होता है और यह विश्वास तथा निश्चिंतता रहती है कि मेरा निर्वाह किसी तरह हो ही जाएगा। एक तरह से यह संपत्ति सोना-चांदी के संग्रह जैसी है, क्योंकि यह खाद्य वस्तु नहीं है, परंतु इसके द्वारा खाद्य वस्तु मिल सकती है। दूसरी दृष्टि से इसका महत्त्व सोने-चांदी के भंडारों से भी बहुत ज्यादा है, क्योंकि यह बाहरी वस्तु नहीं है, यह न चोरी की जा सकती है, न उपभोग से कम ही होती है। तीसरी बात यह कि यह खुद अपने ही काम में आ सकती है, वारिसों को या दूसरों को दी नहीं जा सकती।

इन सबमें भी चरित्र-धन सबसे अधिक मूल्यवान संपत्ति है। क्योंकि शरीर-बल वृद्धावस्था और रोग से नष्ट भी हो जाता है, बुद्धि को भी बीमारी लग सकती है, विद्याओं के भूल जाने अथवा जमाना बदलने पर उनके भी निरुपयोगी हो जाने की संभावना रहती है, परंतु चरित्र इन सबसे परे है।

इस परिप्रेक्ष्य में हम फिर से ऐसे संत-वचनों पर विचार करें, जिन्होंने अपरिग्रह की महिमा गाई है। परिग्रह का निषेध करने में और उस पर प्रहार या कटाक्ष करने में सत्पुरुषों की भूमिका एक-सी नहीं दिखाई देती। कहीं उन्होंने परिग्रह के नाम पर सिर्फ स्वामित्व की भावना का ही निषेध करना चाहा है। कभी-कभी अतिरिक्त अथवा अमर्याद परिग्रह का निषेध किया है। कहीं-कहीं निर्वाह के लिए किए जाने वाले श्रम का भी निषेध किया गया है। और, कहीं तो दिगंबर दशा का आदर्श उपस्थित किया गया है।

हमें चाहिए कि हम इन सब वचनों का महत्त्व अपने विवेक से समझें।

अपरिग्रह के मूल में यह दृढ़ श्रद्धा रहती है कि परमेश्वर सब प्राणियों का पालक और पोषक है—**'जब दांत न थे तब दूध दियो, अब दांत दिए कहा अन्न न देहै।'**—फिर अन्न भी वह इतना ही नहीं देगा कि केवल प्राण शरीर में टिके रहें, बल्कि सब वास्तविक जरूरतें पूरी कर देगा।

गरीब और अमीर का भेद देख कर आमतौर पर हम ऐसी शिकायत करते हैं कि समाज में न्याय-नीति नहीं है, किंतु अपरिग्रही साधु इस विषय में दो प्रकार के विचार प्रदर्शित करते हैं। कुछ तो कहते हैं—

राम झरोखे बैठ कर, सबका मुजरा लेत।
जितनी जाकी चाकरी, उतना वाको देत।।

अर्थात् राम प्रत्येक को उसकी पात्रता के हिसाब से देता है। फिर कई बार वे यह भी कहते हैं कि परमेश्वर **'चींटी को कन व हाथी को मन'** देता है। अर्थात्; प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार देता है। सारांश यह कि किसी को ज्यादा व किसी को कम मिलता है, उसका कारण परमेश्वर का अन्याय नहीं, बल्कि उसकी दृष्टि में उन व्यक्तियों की पात्रता या आवश्यकता इतनी ही है। अधिक उखाड़-पछाड़ करने वाला वैसा करके भी अधिक प्राप्त नहीं कर सकता। इसके विपरीत ऐसा भी अनुभव होता है कि जो त्याग का प्रयत्न करते हैं, उन्हें कई बार अपनी इच्छा से अधिक स्वीकारना या भोगना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर की दृष्टि में किसी की पात्रता या आवश्यकता अधिक हो, तो वह उसे जबरदस्ती भी अधिक उपभोग की सामग्री प्रदान करता है।

कुछ लोगों को ये बातें अबुद्धि की लगेंगी, पर बात यह है कि आमतौर पर लोगों को यह अंदेशा रहता है कि यदि हम समय पर संपत्ति का संग्रह न कर लेंगे, तो कठिनाई में पड़ जाएंगे और इसलिए वे उसे बढ़ाने की चिंता करते रहते हैं। परंतु, कई मनुष्य अपना यह अनुभव बताते हैं कि उन्हें परिग्रह-त्याग से जीवन में कभी कोई कठिनाई नहीं हुई, जंगल भी उनके लिए मंगल बन गया। उनकी जरूरतें अकल्पित रूप में पूरी हो गईं और केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि प्राणी और जड़ सृष्टि भी इस तरह उनके अनुकूल हो गई—मानो उनकी सेवा ही करना चाहती हो। अतएव उनका यह विश्वास हो गया कि जो लोग चिंता करते हैं और आशंका में रहते हैं, वे ईश्वर के प्रति अपनी अश्रद्धा के कारण ही दुख पाते हैं। जो लोग परमेश्वर पर विश्वास रखते हैं, उनकी चिंता वह खुद ही रखता है, किंतु जो अपनी दीर्घदृष्टि, मितव्ययिता, होशियारी, मेहनत आदि पर विश्वास रखते हैं, उनको भी देता तो वही है, परंतु उनके द्वारा कल्पित तरीके से देता है। इससे उन्हें यह मालूम नहीं पड़ता कि हमें भी परमेश्वर ही देता है, बल्कि यह भास होता है कि हमें यह अपने पुरुषार्थ से मिलता है।

चूंकि संतों को परमेश्वर के इस विश्वंभरत्व के विषय में बार-बार अनुभव हुआ है, उनके मन में व्यवहारी मनुष्य की परिग्रह संबंधी चिंताओं के प्रति अनादर रहता है। इसके विपरीत व्यवहारी मनुष्यों को कठिनाइयों और दुखों का बार-बार अनुभव होता रहता है और वे देखते हैं कि जिन लोगों ने ऐसे अवसरों के लिए परिग्रह रख छोड़ा है—वे मजे में रहते हैं। अतः भक्तों की ऐसी वाणी में उन्हें केवल भावुकता मालूम होती है। इसके अलावा, कई बार वे यह भी देखते हैं कि बहुत से साधु अपने तन

का आलस्य ढांकने के लिए ही ऐसी बातें कहा करते हैं, क्योंकि वे अपनी जरूरतों के लिए परिग्रही व्यक्तियों को तंग किया करते हैं और उनकी उदारता पर ही अपनी जिंदगी बसर करते हैं। इससे संतों के ऐसे वचनों पर उनकी श्रद्धा जमने नहीं पाती।

परंतु, सच बात तो यह है कि संतों के पास दो प्रकार की संपत्तियां ही होती हैं, जिनकी खुद उन्हें भी पूरी जानकारी नहीं होती, न परिग्रह वालों को ही होती है। फिर भी दोनों को उनकी थोड़ी-बंहुत कल्पना व कीमत पता भी होती है। ये दो संपत्तियां हैं—चारित्र्य और संकल्प-बल। मनुष्य खुद चरित्रवान हो या न हो, परंतु चारित्र्य के प्रति थोड़ा-बहुत आदर व पूज्यभाव लगभग सब लोगों के मन में होता है। अतः जब किसी संत में वे सचमुच चरित्र-धन देखते हैं, तब उनके मन में उसकी सेवा करने की प्रेरणा उठती है। संत को तो अपने चरित्र का अभिमान होता ही नहीं, अतः वह यह नहीं मानता कि ये जो मान, पूजा, सुविधाएं उसे मिलती हैं, वे उसके चरित्र के कारण हैं, बल्कि यह मानता है कि यह सब परमात्मा की दया से मिल रहा है।

इस चरित्र-धन को जुटाने में संतों के पूर्वजन्म का व्यवहार भी अपना महत्त्व रखता है। या तो उनका पूर्वजीवन समृद्धि में बीता होगा और उसे त्याग कर उन्होंने गरीबी अख्तियार की होगी, अथवा जब वे भी परिश्रम करके अपनी जीविका चलाते थे, तब अतिशय प्रामाणिकता, उद्योगशीलता और संतोष उनके जीवन के स्पष्ट लक्षण रहे होंगे। फिर जब उन्होंने स्वयं परिश्रम करके निर्वाह करने का मार्ग छोड़ा तब आलस्य के कारण नहीं, बल्कि किसी विशेष उदात्त उद्देश्य के लिए छोड़ा होगा। यह चरित्र-धन तथा अपने उच्च उद्देश्य को सिद्ध करने का तीव्र संकल्प जीवन की आवश्यकताओं की प्राप्ति में बहुत कारणीभूत होते हैं। क्योंकि आखिर जीवन की समस्त प्राप्तियों का मूल कारण तो आत्मा की सत्य-संकलपना ही है। अतएव जहां कहीं तीव्र संकल्प है, वहां उसे सिद्ध करने के लिए आवश्यक सामग्री निर्माण करने की शक्ति भी मौजूद ही रहती है। इस तरह अपरिग्रही साधु को जो अकल्पित रूप से अपनी जरूरतें पूरी होने का अनुभव होता है, उसका कारण यह है कि किसी उदात्त हेतु को सिद्ध करने का संकल्प वह करता है और उसके लिए इन जरूरतों का पूरा होना लाजिमी हो जाता है।

इस प्रकार साधु-पुरुषों को बाह्य परिग्रह की या निर्वाह के लिए मेहनत करने की आवश्यकता नहीं दिखाई देती और अपने अनुभव के बल पर वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जिसकी जो जरूरत होगी वह उसे अवश्य मिल जाएगी।

तात्पर्य यह है कि संसारी और साधु, दोनों के अनुभवों में सत्यांश है। संसारियों को संग्रह के अभाव में विपत्तियों का जो अनुभव होता है, वह निर्विवाद है। परंतु, इससे वे संग्रह का महत्त्व जरूरत से ज्यादा समझ बैठते हैं। इधर संतों को यह स्पष्ट अनुभव होता है कि वे जो चाहते हैं, सो उन्हें जरूर मिल जाता है। इससे वे परिग्रह की ही नहीं, बल्कि श्रम की भी कीमत कुछ नहीं समझते और इस बात को भूल जाते हैं कि उनकी जरूरतें पूरी करने के लिए किसी न किसी को परिग्रह और श्रम की चिंता करनी ही पड़ी है।

अधिक सत्यपूर्ण विचार इन दोनों के बीच में है। वह है—परिग्रह और मालिकाना हक में भेद करने की जरूरत, और श्रेयार्थी पहले तो जितना हो सके स्वामित्व का भाव घटाए, अर्थात् जिसको आवश्यकता हो उसे अपने परिग्रह का उपभोग करने की अधिक छूट दे। हां, आज की परिस्थिति में इस विचार की कार्यरूप में परिणति एक सीमा में ही हो सकती है, परंतु इस दिशा में प्रयाण करने की आवश्यकता जरूर है। इसी तरह परिग्रह और श्रम का भेद भी समझना जरूरी है। कोई व्यक्ति अपरिग्रह का आदर्श रखे, तो हो सकता है कि उसमें न तो कोई बुराई हो और न समाज को ही कोई हानि पहुंचे, परंतु यदि कोई व्यक्ति ऐसा विचार रखे और उसका प्रचार करे कि **'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम'**, तो इससे समाज को अवश्य हानि पहुंचेगी और पाखंड तथा आलस्य की वृद्धि होगी। इसके विपरीत यह सिद्धांत कि सिर्फ आज की ही रोटी कमा लो (अर्थात् मेहनत करके प्राप्त करो) श्रमपोषक होते हुए भी अपरिग्रह का है और श्रेयःसाधक भी है।

परिग्रह और हिफाजत के भेद को भी समझ लेना जरूरी है। जो चीज इस्तेमाल से आज ही घिस या बिगड़

नहीं जाती, उसे जतन से रखना परिग्रह तो है, परंतु यह एक सद्गुण भी है और आवश्यक है। ऐसा न करना दोष में शामिल है। किंतु, केवल संग्राहक बुद्धि से ऐसी चीजों को बढ़ाते ही जाना अतिरेक भी है। संतों ने परिग्रह पर जो प्रहार किया है, वह ऐसे अतिरेक पर ही है।

यह भी समझ लेने की आवश्यकता है कि अपरिग्रह तथा परिग्रह, दोनों सिद्धांत उड़ाऊपन के खिलाफ हैं। जिस चीज के उपभोग की आज जरूरत नहीं है, उसको भी परिग्रह न रखने की दृष्टि से खर्च कर डालना अपरिग्रह नहीं, बल्कि पदार्थों पर अत्याचार है अथवा स्वेच्छाचारिता है। इसी तरह अपने उपभोग के लिए सृष्टि के समस्त रस-कस को अधिक से अधिक खींच लेने की वृत्ति रखना मनुष्य का प्रकृति पर अत्याचार है। अपरिग्रह के सूक्ष्म अर्थ का विचार करें तो मालूम होगा कि साहूकारों की स्थापित सराफे की दुकानों पर या निजी तिजोरियों पर विश्वास रखने के बदले ईश्वर के प्राकृतिक बैंक पर विश्वास रखना अपरिग्रह का आचरण है। परंतु, इस प्रकार मनुष्य के स्थापित बैंक में से जितना रुपया रोज उठाया जाए, उतना फिर जमा करने की चिंता न की जाए—तो फिर एक दिन अपना खाता वहां से उठ ही जाता है। इसी तरह इस प्राकृतिक बैंक से रोज-ब-रोज जितना हम खींचते हैं, उतना ही हमें जगत की भिन्न-भिन्न रूप में सेवा व श्रम के द्वारा फिर प्रकृति को लौटा देना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता है, उसका विश्वास 'अपरिग्रह' के या 'ईश्वर सबका पालन-पोषण करता है'—इस सिद्धांत के विपरीत ही बैठ सकता है।

अतः कुदरत का मितव्ययता से उपयोग करना परिग्रही या अपरिग्रही, दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक नियम है। इससे यह भी समझ में आएगा कि कुछ साधुओं के अपने हाथ में आई मनुष्योपयोगी चीजों को चाहे जहां फेंक देने, या हर किसी को देकर उनको बरबाद करने, या उन्हें लुटाकर अपनी धन-संबंधी उपेक्षा बताने में प्रायः अविवेक ही होता है। किसी भी वस्तु का त्याग उचित रीति से और उचित मात्रा में ही करना चाहिए।

चरित्र और उदात्त संकल्प भी एक प्रकार का धन ही है। अतएव हमें यह समझना चाहिए कि केवल बाह्य सामग्री एकत्र करने के लिए किए गए श्रम से ही निर्वाह नहीं होता, बल्कि उसके जुटाने में चरित्र व उदात्त संकल्प भी कारणीभूत होते हैं और इसलिए उन्हें बढ़ाने का प्रयत्न करना और उन पर विश्वास रखना भी सीखना चाहिए। हमारे परिग्रह और भोगों की एक सीमा होनी चाहिए। अपने समय में उनकी क्या मर्यादा होनी चाहिए, इसका विचार सुज्ञजनों को स्वयं करते रहना चाहिए। समझना चाहिए कि भोगों की विविधता और रसिक वृत्ति जीवन का आदर्श नहीं, बल्कि सादा, मेहनती व अल्पसाधन-युक्त जीवन ही सच्चा जीवन है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

शास्त्रों का वाचन, मंत्रों का संकीर्तन, स्तोत्रों का स्मरण और स्तवन किया जाता है, पर 'लोगस्स' आगम वर्णित ऐसा मंत्र है—जिसका वाचन, कीर्तन, स्मरण, स्तवन, स्वाध्याय—सब-कुछ किया जा सकता है। यह महान रहस्यों एवं उनके गूढ़ार्थों को अपने भीतर समेटे हुए है। इसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक चरण, प्रत्येक पद्य अपने आप में सिद्ध मंत्राक्षर के रूप में प्रतिष्ठित है। यह एक बड़ी आध्यात्मिक निधि है। इसमें आध्यात्मिक उन्नयन की ओर ले जाने का आधार है, तो लौकिक संकट आदि के निवारण की भी अद्भुत क्षमता है।

लोगस्स : निहित है आध्यात्मिक एवं लौकिक उन्नयन

साध्वी पुण्ययशा

लोगस्स तीर्थंकर स्तुति का महान मंत्र है। यह एक महाशक्ति है। भक्ति साहित्य की एक अमर, अलौकिक, रहस्यमयी और विशिष्ट रचना है। लोगस्स जैन समाज में इतना मान्य और लोकप्रिय है कि इसको अत्यंत श्रद्धा एवं महत्त्व का स्थान प्राप्त है। अक्षर देह से यह इतना विराट और विशाल नहीं है, पर आत्म-दर्शन के रहस्य इसमें संगृहीत हैं। इसमें निहित गूढ़ार्थ सर्व-साधारण के लिए बेशक सुग्राह्य नहीं हैं, पर इसका अर्थ और भाव इतना गंभीर है कि इसमें जितनी बार भी अवगाहन किया जाए—कुछ-न-कुछ नवीन रहस्य हस्तगत होते रहते हैं। लोगस्स पारदर्शी मन का निर्माण करने वाली स्तुति है।

लोगस्स क्या है

'लोगस्स.....सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'। यह 'निर्वाण' स्थिति का संपर्क सूत्र है—यदि ऐसा कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस सूत्र में छिपे अर्थ गांभीर्य से ही इस रहस्य को समझा जा सकता है। 'लोगस्स' से लोकयात्रा का प्रारंभ होता है और उसकी अंतिम गाथा का अंतिम चरण 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'—यह लोक-यात्रा की पूर्णाहुति ही है, जहां सिद्ध परमात्मा रहे हुए हैं।[1] इस प्रकार लोगस्स को 'निर्वाण' स्थिति का संपर्क सूत्र कहने में संदेह को अवकाश नहीं है।

यदि दूसरे दृष्टिकोण से इस पर चिंतन करें, तो सिद्ध जीव ही संसारी जीवों को अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आने का स्थान देते हैं। जितने जीव सिद्ध गति को प्राप्त होते हैं, उतने ही जीवों का अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में निर्यात हो जाता है। अर्थात् सिद्ध बनने वाले जीवों ने स्थान रिक्त किया, तभी अव्यवहार के जीवों को व्यवहार राशि में आने का स्थान मिला। अतः सिद्ध स्थान देने वाले देव (परमात्मा) हैं। व्यवहार राशि में आने के बाद ही आत्मा का क्रमिक विकास होने से जीव की कर्मों से मुक्ति संभव है।

लोगस्स की स्तुति से साधक यह भाव अभिव्यक्त करता है कि सिद्ध भगवंतों ने मुझे व्यवहार राशि में आने

का स्थान दिया और अब उसी आलंबन से मुझे सिद्ध गति मिले, यही रहस्य 'लोगस्स' के इस पद 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' में अंतर्निहित है।

लोगस्स का लाक्षणिक अर्थ

लोगस्स का लाक्षणिक अर्थ है—विश्व की समग्रता। समग्रता का अभिप्राय चेतना के अस्तित्व का साक्षीसूत्र है। लोक भी शाश्वत है और हमारी चेतना भी शाश्वत है, इस प्रकार 'लोगस्स' का अर्थ हुआ—स्वयं का स्वभाव, आनंद का आविर्भाव, भीतर का बदलाव, परमात्मा का प्रभाव, शाश्वत मूल्यों का स्वीकरण, अस्तित्व का बोध, आत्म-गुणों का विकास, वृत्तियों का परिष्कार और अपूर्व समाधि की उपलब्धि।

मूलत: अपने आत्म-स्वरूप की ही यह एक अभ्यर्थना है। अभ्यर्थना से साधक अपने संकल्प को बलवती बना सकता है, भावना में दृढ़ता पैदा करता है और साधना के उच्च से उच्च साधनों पर आरोहण की क्षमता प्राप्त कर सकता है। इससे उसे ज्ञान का प्रकाश मिलता है। ज्ञान का प्रकाश पा लेने पर वह अपने सही कर्तृत्व को समझने की योग्यता को विकसित कर लेता है।

लोगस्स : शाश्वत सुख का राजपथ

सचमुच लोगस्स शाश्वत सुख का राजपथ ही है। इस स्तवन से समाधि का द्वार खुलता है, प्रज्ञा अनावृत होती है, सूक्ष्म शक्तियों की जागृति के साथ-साथ ज्ञान, आनंद व तेज प्रकट होता है। ज्ञान, आनंद व तेज—ये तीनों महाशक्तियां हमारे अपने ही भीतर हैं। तीनों का स्रोत एक आत्मा है। आत्मा की तीन महाशक्तियां हैं—1.**अनंत ज्ञान,** 2. **अनंत आनंद** और 3. **अनंत शक्ति।**

ज्ञान सरस्वती है, आनंद लक्ष्मी (श्री) है और बल (शक्ति) दुर्गा है। आत्म-जागरण से इन तीनों महाशक्तियों का जागरण अवश्यंभावी है। आत्मा केवल श्रोतव्य और मननीय ही नहीं है, वह साक्षात् करणीय है। साक्षात्कार प्रयोग सापेक्ष है। दुनिया में सबसे बड़ी बात है—स्वयं की स्मृति, स्वयं से स्वयं की मुलाकात। प्रेक्षाध्यान का यह ध्येय सूत्र—**'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं**[2] आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें।'—परम संबोधि का सूत्र है।

इसी प्रकार—**'अप्पणा सच्चमेसेज्जा**[3] स्वयं सत्य को खोजो, अपना अनुशीलन स्वयं करो।'—**'अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो**[4] सतत आत्मा की रक्षा करो।'—ये सब आत्मकेंद्रित महापुरुष के ही स्वर हैं, किसी बहिरस्थ व्यक्ति के नहीं।

मैत्री, क्षमा, समता, सहिष्णुता और धैर्य जैसे आत्मगुण ओढ़े नहीं जाते। यह हमारी निजी संपदा हैं, हमारा अपना स्वभाव है। जब वीतराग साधना तक पहुंचना हमारा ध्येय बनता है—तब साहस, धैर्य, अभय, पुरुषार्थ, विश्वास और दिशा-निर्णय की प्रज्ञा स्वत: जाग जाती है। इस प्रकार 'लोगस्स' का अभिप्राय हुआ— आत्मा-परमात्मा का सम्मिलन, उसका दर्शन और चिंतन। इस स्तवन में परमात्मा के अनुपम गुणों और वीतराग भाव का अपूर्व वर्णन अंतर्निहित है।

लोगस्स : मंत्र गर्भित स्तवन

'लोगस्स' में भक्ति की भगीरथी प्रवाहित है। साधक जब इसका पाठ करता है तो उसका हृदय भक्तिरस से आप्लावित हुए बिना नहीं रह सकता। वह अनुभूति निश्चय ही अलौकिक आनंद युक्त होती है। भक्त अपने प्रभु की स्तुति में अपने आपको विस्मृत करके उन्हीं के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देता है। यह चिरंतन सत्य हमें किसी ग्रंथ में नहीं, स्वयं अपने भीतर ही मिलेगा।

'लोगस्स' आगम विवर्णित मंत्र गर्भित एवं मृत्युंजयी स्तवन है। इसमें मंत्रों के अक्षरों की ऐसी अपूर्व और अनूठी संयोजना है कि इसके स्तवन से सब मनोरथ सिद्ध होते हैं। इसका एक-एक अक्षर और वर्ण शक्तिपुंज है। प्रत्येक अक्षर 'अक्षय' की ओर संकेत करता है। प्रत्येक वर्ण स्वर्ण से बहुमूल्य है। इसमें अर्हत् भक्ति का परम पीयूष भरा है। जैन वाङ्मय में तो यह अति महत्त्वपूर्ण पाठ माना गया है। इसमें वर्तमान 'चौबीसी' के परम उपकारी वीतराग तीर्थंकरों की स्तुति की गई है, जिन्होंने विश्व को धर्म का मार्ग दिखाया, अहिंसा और सत्य की राह दर्शाई, ज्ञान-दर्शन की अनंत ज्योति दिखलाई तथा इस संसार सागर से तिर कर उन्हीं के सम कर्म-मुक्त हो अपना कार्य सिद्ध करने की प्रेरणा दी।

श्रीमद् मज्जयाचार्यजी ने 'चौबीसी' की उन्नीसवीं

गीतिका में लिखा है—मानसिक, वाचिक और कायिक स्थिरता साध कर एकत्व की अनुभूति के साथ तीर्थंकर की स्तुति, स्मृति अथवा नाम-मंत्र का जप करने से अनिष्ट-अमंगल नष्ट होते हैं। आंतरिक संताप और तनाव समाप्त होते हैं।[5] लोगस्स का जप भावितात्मा बनने का महानतम प्रयोग है। यह जहां एक ओर तेजस्विता, निर्मलता और गंभीरता प्राप्ति का सर्वोत्तम एवं अचूक मंत्र है, वहीं दूसरी ओर एक ऐसा अमोघ शस्त्र है कि जिसके निकट रहते दुःख, क्लेश, रोग, शोक, दरिद्रता आदि सभी कष्ट दूर हो जाते हैं।

शास्त्रों का वाचन, मंत्रों का संकीर्तन, स्तोत्रों का स्मरण और स्तवन किया जाता है, पर 'लोगस्स' आगम वर्णित ऐसा मंत्र है—जिसका वाचन, कीर्तन, स्मरण, स्तवन, स्वाध्याय—सब-कुछ किया जा सकता है। यह महान रहस्यों एवं उनके गूढ़ार्थों को अपने भीतर समेटे हुए है। इसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक चरण, प्रत्येक पद्य अपने आप में सिद्ध मंत्राक्षर के रूप में प्रतिष्ठित है। यह एक बड़ी आध्यात्मिक निधि है। इसमें आध्यात्मिक उन्नयन की ओर ले जाने का आधार है, तो लौकिक संकट आदि के निवारण की भी अद्भुत क्षमता है।

इसके प्रत्येक श्लोक और हर एक श्लोक के एक-एक पद में भावों का जो लालित्य और जो सागर लहरा रहा है, उसमें गहराई से अवगाहन करके ही जाना जा सकता है कि वहां कैसे-कैसे बहुमूल्य रत्न छिपे हुए हैं। सच्चे अर्थों में यह स्तवन 'गागर में सागर' की कहावत को चरितार्थ करता है।

लोगस्स : छंद रचना

लोगस्स का प्रथम पद शिलोग छंद (अनुष्टुप छंद) में और शेष पद गाहा छंद में आबद्ध हैं। संस्कृत में जिस छंद को 'आर्या' कहा जाता है, प्राकृत में उसे 'गाहा' या 'गाथा' कहा जाता है, उसके लक्षण निम्नांकित हैं—**'यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेषु अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदशार्या'**—अर्थात् जिसके पहले और तीसरे चरण (छंद या अंश के चतुर्थ अंश को पाद या चरण कहते हैं।) में बारह मात्राएं, दूसरे चरण में अठारह मात्राएं और चतुर्थ चरण में पंद्रह मात्राएं हों—वह 'आर्या' या 'गाहा' छंद कहलाता है।[6]

लोगस्स : शाश्वत या अशाश्वत

वर्तमान स्थिति रूप में तो 'लोगस्स' सूत्र शाश्वत नहीं हो सकता। क्योंकि वर्तमान 'लोगस्स' सूत्र भगवान महावीर के बाद की रचना है। परंतु, प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में 'आवश्यक सूत्र' होता है और महाविदेह क्षेत्र में भी होता है। अतएव उनके गणधर अपने-अपने शासन के योग्य उत्कीर्तन सूत्र की रचना करते ही होंगे। भाव की दृष्टि से लोगस्स सूत्र शाश्वत है, किंतु शब्द की दृष्टि से नहीं। कुछ मनीषी पुरुषों की यह मान्यता है कि तीर्थंकरों के नाम वाले तीन पद—2, 3, 4 अशाश्वत हैं, वे वर्तमान 'चौबीसी' के नामानुसार परिवर्तित होते रहते हैं, शेष चार पद—1, 5, 6, 7 शाश्वत हैं।[7]

जिस प्रकार दसवैकालिक में जो शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व निबद्ध हैं, वे प्रवाह रूप से अनादि हैं, पर आचार्य स्वयंभव को दसवैकालिक के कर्ता के रूप में याद किया जाता है,[8] उसी प्रकार शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व की दृष्टि से 'लोगस्स' भी अनादि और शाश्वत है, पर चतुर्दशपूर्वी, श्रुतकेवली (विपुल ज्ञान राशि का एक परिणाम है—पूर्व और पूर्व चौदह बतलाए गए हैं, जिनका समावेश आगम साहित्य के अंतर्गत बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' में माना जाता है। वर्तमान में यह दृष्टिवाद अप्राप्य है। पूर्व या पूर्वों का ज्ञान धारण करने वाला मुनि पूर्वधर कहलाता है। चौदह पूर्वों का ज्ञाता चतुर्दशपूर्वी और दस पूर्वों का ज्ञाता दसपूर्वी कहलाता है। चतुर्दशपूर्वी श्रुतकेवली भी कहलाता है। ज्ञानावरण के क्षीण होने पर पुरुष केवली बनता है। श्रुत ज्ञानावरण का विशिष्ट क्षयोपशम होने पर पुरुष श्रुतकेवली बनता है। कहा है—**सुत्तं गणहर कथितं तहेव पत्तेयबुद्ध कथितं च। सुदकेवलनिया कथितं अभिण्णदसपूव्वकथितं च।)** आचार्य भद्रबाहु को दूसरे चतुर्विंशति आवश्यक के कर्ता के रूप में याद किया जाता है। आचारांग टीका के अनुसार—**'आवश्यकांतर्भूतश्चतुर्विंशति-स्तवारातीयकालभाविना भद्रबाहु स्वामिनाऽकारिअ'**[9], आचार्य शीलांक के इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि

शब्द रूप में वर्तमान चतुर्विंशति स्तव की रचना आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गई है।

जैन श्रुति के अनुसार तीर्थंकर के समान अन्य प्रत्येक बुद्ध-कथित आगम भी प्रमाण है।[10] नंदी और अनुयोगद्वार में 'आवश्यक' को अंगबाह्य बतलाया गया है। बारह अंग-आगमों को आधार बना कर कुछ विशिष्ट ज्ञानी (पूर्वधर) आचार्यों के द्वारा नए सूत्रों की रचना की जाती है, वे अंगबाह्य (उपांग) कहे जाते हैं। अतएव आवश्यक सूत्र अंगबाह्य होने के कारण गणधरकृत नहीं हो सकता। साधुओं के आचार में नित्योपयोग में आने वाला यह सूत्र है। अतः इसकी रचना दसवैकालिक से पहले की मानी जाती है। आवश्यक भाष्य का समय विक्रम की पांचवीं, छठी शताब्दी है।

जैन परंपरानुसार केवल द्वादशांगी ही आगमांतर्गत नहीं है, क्योंकि गणधरकृत द्वादशांगी के अतिरिक्त अंगबाह्य रूप अन्य शास्त्र भी आगम रूप में मान्य हैं। वे गणधरकृत नहीं हैं, परंतु अन्य स्थविर सूत्रों के आधार पर उनकी रचना करते हैं।[11] स्थविर दो प्रकार के होते हैं—1. संपूर्ण श्रुतज्ञानी—चतुर्दशपूर्वी या श्रुतकेवली, और 2. दसपूर्वी।

श्रुतकेवली गणधर प्रणीत संपूर्ण द्वादशांगी (तीर्थंकर की वाणी के आधार पर उनके विशिष्ट ज्ञानी शिष्य—गणधर जिन आगमों का संकलन करते हैं, वे अंग कहलाते हैं। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंग हैं, इन्हें द्वादशांगी कहा जाता है।) रूप जिनागम के सूत्र और अर्थ के विषय में विशेषतः निपुण होते हैं। अतएव उनकी क्षमता एवं योग्यता मान्य है कि वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे, उनका जिनागम के साथ कुछ भी विरोध नहीं हो सकता। जिनोक्त विषयों का संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाज के अनुकूल ग्रंथ रचना करना ही उनका एकमात्र प्रयोजन होता है। इस दृष्टि से इन ग्रंथों को संघ में आगमांतर्गत कर लिया है। इनका प्रामाण्य स्वतंत्र भाव से नहीं, किंतु गणधर प्रणीत आगम के साथ अविसंवाद प्रयुक्त होने से है। वृहत्कल्प भाष्य में उल्लेख मिलता है कि जिस बात को तीर्थंकर ने कहा, उसको श्रुतकेवली भी कह सकते हैं।[12] इस अपेक्षा से केवली और श्रुतकेवली के ज्ञान में कोई विशेष अंतर न होने के कारण दोनों का प्रामाण्य समान रूप से है।

दिगंबर परंपरा में 'लोगस्स' को आचार्य कुंदकुंद की रचना माना गया है। उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रथम पद को छोड़ कर सभी पद एक दो शब्दों के परिवर्तन के अलावा समान ही हैं, परंतु आचार्य कुंदकुंद से आवश्यक सूत्र प्राचीन है। उसमें स्पष्ट रूप से चतुर्विंशतिस्तव का उल्लेख है। दिगंबर ग्रंथों में शोरसैनी प्राकृत का प्रयोग हुआ है, जबकि श्वेतांबर वाङ्मय अर्द्धमागधी भाषा में है, इसलिए एक-दो शब्दों का अंतर हो सकता है।

आवश्यक सूत्र उतना ही पुराना होना चाहिए जितना नमस्कार महामंत्र, क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति में नमस्कार महामंत्र के पांचों पदों की लगभग 139 गाथाओं में विस्तृत व्याख्या है। इससे पूर्ववर्ती किसी भी ग्रंथ में नमस्कार महामंत्र का इतना विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। आवश्यक निर्युक्ति में पंच परमेष्ठी को नमस्कार पूर्वक सामायिक करने का निर्देश है।[13] इस गाथा से यही फलित निकलता है कि नमस्कार महामंत्र उतना ही पुराना है—जितना सामयिक सूत्र या आवश्यक सूत्र।

भगवान महावीर से पूछा गया—'जिसे आप नित्य या शाश्वत धर्म कहते हैं—वह धर्म क्या है?' उन्होंने कहा—'किसी भी प्राणी को मत मारो, उपद्रव मत करो, परिताप मत दो और किसी की स्वतंत्रता का अपहरण मत करो।'—उन्होंने जैन धर्म को नहीं, अपितु धर्म तत्त्व को शाश्वत कहा है।

नाम और रूप शाश्वत नहीं होते, तत्त्व शाश्वत होते हैं। जैन, वैष्णव, शैव आदि सब नाम धर्म की परंपरा के सूचक हैं। इनमें धर्म की व्याप्ति नहीं है। भगवान महावीर ने अश्रुत्वा केवली, अन्यलिंग सिद्ध, गृहलिंग सिद्ध और प्रत्येक बुद्ध सिद्ध की स्थापना कर इस बात को निरर्थक सिद्ध कर दिया कि मेरी परंपरा में आने पर ही तुम्हारा कल्याण होगा, अन्यथा नहीं। ऐसे पैंतालीस अन्यलिंगी सिद्ध हुए हैं, जिनकी वाणी **'इसिभासिय सित्तं'** में संग्रहित की गई है।[14] संप्रदाय मुक्त, किंतु निर्मल व्यक्ति को पूर्णत्व का अधिकारी मानकर भगवान महावीर ने धर्म को प्राधान्य दिया है, उसकी शाश्वतता को उजागर किया है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भगवान ऋषभ और भगवान महावीर के समय प्रतिदिन 'आवश्यक' होता था। बीच के बाईस तीर्थंकरों के मुनि स्खलना होने पर 'आवश्यक' करते थे—इस उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि 'आवश्यक' की परंपरा अति प्राचीन है, लेकिन इसका स्वरूप बदलता रहा है। इतिहास का सिंहावलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि वर्तमान में उपलब्ध 'आवश्यक' एक आचार्य की रचना न होकर आचार्य भद्रबाहु एवं उनके समकालीन अनेक बहुश्रुत, स्थविर आचार्यों के चिंतन एवं ज्ञान की फलश्रुति है।

चूंकि इस ग्रंथ को आत्मालोचन का उत्कृष्ट ग्रंथ बनाना था, इसलिए अनेक आचार्यों का सुझाव और चिंतन का योग अपेक्षित था। यदि 'आवश्यक सूत्र' किसी एक आचार्य की कृति होती तो दसवैकालिक के कर्ता की भांति इसके कर्ता का नाम भी अत्यंत प्रसिद्ध होता, क्योंकि यह प्रतिदिन सुबह और सायं स्मरण की जाने वाली कृति है। अत: 'आवश्यक' को अनेक आचार्यों की संयुक्त कृति स्वीकार करना चाहिए और दूसरे चतुर्विंशति 'आवश्यक' के कर्ता श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु को ही मानना चाहिए। आचार्य हेमचंद्र ने 'आवश्यक' को गणधर प्रणीत माना है। 'श्री भिक्षु आगम विषय कोश ग्रंथ परिचय' के पृष्ठ संख्या 31 पर लिखा है—संभव है कि भगवान पार्श्व के समय तक एक सामायिक 'आवश्यक' था और उसे 'षडावश्यक' का रूप भगवान महावीर के शासन में मिला। 'षडावश्यक' के विषय का प्रतिपादन भगवान महावीर ने किया और उसका सूत्र रूप में गुंफन गणधरों ने किया।

लोगस्स का माहात्म्य

जैन साहित्य में तीर्थंकरों की स्तुति, अर्चा से संबंधित अनेक ग्रंथ हैं, परंतु लोगस्स सूत्र का अपना विशिष्ट महत्त्व है। कई बार मन में जिज्ञासा होती है कि लोगस्स सूत्र का इतना महत्त्व क्यों? जब समाधान खोजने का प्रयास किया, तो कुछ बिंदु समझ में आए, जो इस लोगस्स सूत्र की महत्ता को उजागर करते हैं—

• मंत्रात्मकता • यथार्थवाद • वीतरागवाणी • सर्वशक्तिमान अर्हत् आत्माओं का गुणोत्कीर्तन • सकल जैन समाज में इसका अभिमंडित होना।

जैन परंपरा में तिरेसठ शलाकापुरुष माने गए हैं। उनमें चौबीस तीर्थंकरों का भी समावेश है। शलाका तीक्ष्ण होने के साथ-साथ स्वच्छ, निर्मल और उज्ज्वल भी होती है। इस कारण उसका लाक्षणिक प्रयोग या लक्ष्यार्थ उत्तम, श्रेष्ठ या विशिष्ट पदार्थों और पुरुषों के लिए हुआ है।

तीर्थंकर त्रिषष्टि शलाका पुरुषों में सर्वोत्कृष्ट उत्तम पुरुष होते हैं। वे मोक्षगामी, अनुत्तर योगी और धर्मतीर्थ के संस्थापक होते हैं। अत: उनकी स्तुति कृतज्ञता के भाव से करना उचित ही है। सामान्यत: स्तुति के दो प्रकार हैं— 1. अर्थवाद, 2. यथार्थवाद। अर्थवाद में यथार्थवाद के साथ अतिशय का भाव आ जाता है। विवेचन में अतिशयोक्ति हो जाती है, पर उसका उद्देश्य अन्यथा नहीं होता। यथार्थवाद में जो जैसा है—वैसा ही भाव उसमें झलकता है। उसमें कृत्रिमता नहीं होती। श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ने लोगस्स-स्तव में यथार्थवाद का निरूपण किया है। मंत्रात्मकता के साथ यथार्थवाद का निरूपण इस सूत्र की महत्ता का सशक्त आधार है।

निश्चय ही तीर्थंकरों की पूजा, अर्चना, गुणोत्कीर्तन व पर्युपासना महान निर्जरा का हेतु है तथा स्वयं को उस आलोक से आलोकित करने का उपक्रम है। तीर्थंकर हमारे आदर्श हैं। हम उनके गुणों का उत्कीर्तन कर उनके गुणों को स्वयं में संक्रांत करने का प्रयत्न करते हैं। लोगस्स प्रमोद भावना के उत्कर्ष का ही सूत्र है। गुणियों के गुणों के प्रति प्रसन्नता होना प्रमोद भावना है। तीर्थंकरों से उत्कृष्ट गुणधारी मनुष्य-लोक में तो क्या, तीन लोक में भी नहीं है। अत: उनके गुणों के स्मरण से अर्थात् लोगस्स-स्तव के माध्यम से प्रमोद भावना के उत्कर्ष को साधा जा सकता है।

लोगस्स का वैशिष्ट्य

लोगस्स में 'वंदे' और 'वंदामि' शब्द पांच बार प्रयुक्त हुआ है, जिसमें 'आशीर्वस्तु निर्देश-नमस्क्रिया' के रूप में गागर में सागर की भांति आर्य संस्कृति का निचोड़ ही भर दिया गया है। वस्तुत: नमन और स्तवन अन्योन्याश्रित है। जहां नमन होता है, वहां स्तवन अपने आप ही हो जाता है। नमन आत्मनिवेदन-रूप भक्ति का एक प्रकार है। नमन द्वारा भक्त का परमात्मा से तादात्मय

होता है। जहां सीमा का विसर्जन होता है, वहां असीम का दर्शन होता ही है।

लोगस्स में 'जिणे' (जिन) शब्द ही संपूर्ण गुणों का बोधक है। वास्तव में राग-द्वेष रहित, करुणामय, महोत्तम पुरुष ही संसार में पूज्य पद के योग्य हैं। ऐसे पुरुषोत्तम का वंदन, कीर्तन मनुष्य को अवश्य ही गुणानुरागी बना कर योग्यता तक पहुंचा सकता है। जैन परंपरा में वीतराग के लिए जिन या जिनेंद्र शब्द का भी प्रयोग होता है। लक्ष्य को सामने रखने की दृष्टि से एक प्रतीकात्मक शब्द है—'जय जिनेंद्र'। जिनेंद्र—अर्थात् वीतराग का जयकार करके व्यक्ति अपनी आस्था को पुष्ट करता है और यह सूचना भी देता है कि वह जैन संस्कृति में विश्वास रखता है।

लोगस्स सूत्र में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के अलावा बीस विहरमान एवं अनंतसिद्ध-आत्माओं को वंदन करते हुए उनका आलंबन लेकर स्वयं प्रेरणा प्राप्त कर सिद्ध बनने की कामना व्यक्त की गई है। 'चउविसंपि' में 'अपि' शब्द बीस विहरमानों का प्रतीक माना गया है, ऐसा श्रुतानुश्रुत है। यह भी अपने-आप में एक रहस्य है।

महाविदेह क्षेत्र और लोगस्स

गणित की दृष्टि से हिसाब लगाएं तो महाविदेह क्षेत्र में बीस विहरमान (तीर्थंकर) तो रहते ही हैं और उनमें से प्रत्येक तिरासी (83) लाख पूर्व की आयु तक गृहवास में और एक लाख पूर्व संयमावस्था में बिताते हैं। जब बीस विहरमान निर्वाण को प्राप्त होते हैं, तो नए बीस विहरमान एक साथ अपने-अपने क्षेत्रों में विहरमान पद पर सुशोभित हो जाते हैं। अत: स्पष्ट है कि एक समय में गृहवास में बीस विहरमान एक लाख पूर्व की आयु के, बीस ही दो लाख पूर्व की आयु के और इसी क्रम में तिरासी लाख पूर्व तक गिन लेना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि एक समय में गृहवास में जघन्य 83×20=1,660 तथा विहरमान पद पर आसीन बीस विहरमान कुल 1,680 विहरमान होते हैं। इतने विहरमान (द्रव्य और भाव) एक समय में होने पर भी ये कभी आपस में मिलते नहीं हैं। अनादिकाल से यह क्रम चल रहा है और अनंत काल तक यही क्रम चलता रहेगा।[15]

महाविदेह क्षेत्र में बीस विहरमान शाश्वत होते हैं, इस दृष्टि से कई बार यह जिज्ञासा की जाती है कि क्या महाविदेह क्षेत्र में भी लोगस्स सूत्र है, पर वहां चतुर्विंशति स्तव नहीं है, किंतु उत्कीर्तन सूत्र होना संभव है। क्योंकि आवश्यक सूत्र वहां भी होता है। वस्तुत: आवश्यक सूत्र प्रेरित आवश्यक क्रियाएं ही मोक्षमार्ग है। भगवान ऋषभदेव ने वज्रनाभ के भव में (महाविदेह में) बीस बोल की आराधना करके तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन किया। बीस बोलों में एक बोल 'आवश्यक' आराधना भी है। वहां दूसरे 'आवश्यक' का क्या स्वरूप है, ग्रंथों में यह कहीं देखा नहीं है।

लोगस्स में चौबीस तीर्थंकर

इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में जो चौबीस तीर्थंकर हुए उनके नाम और चारित्र का स्मरण करने से शुद्ध तत्त्व का लाभ हो, यही इसका प्रमुख हेतु है। वैरागी का चारित्र वैराग्य का बोध देता है। अनंत चौबीसी के अनंत नाम सिद्ध स्वरूप में समग्रत: आ जाते हैं। वर्तमान काल के चौबीस तीर्थंकरों के नाम इस काल में लेने से काल की स्थिति का अति सूक्ष्म ज्ञान भी याद आ जाता है। जैसे इनके नाम इस काल में लिए जाते हैं, वैसे ही 'चौबीसी' के नाम, काल और 'चौबीसी' बदलने पर लिए जाते रहते हैं। इसलिए अमुक-अमुक नाम लेना—ऐसा कुछ निश्चित नहीं है, परंतु उनके गुण और पुरषार्थ की स्मृति के लिए वर्तमान 'चौबीसी' की स्मृति करना, ऐसा तत्त्व निहित है। उनका जन्म, विहार, उपदेश—यह सब नाम निक्षेप से जाना जाता है। इससे हमारी आत्मा ज्ञान का प्रकाश पाती है। सर्प जैसे बांसुरी के नाद से जागृत होता है, वैसे ही आत्मा अपनी सत्य ऋद्धि सुनने से मोह निद्रा से जागृत होता है।[16]

तीर्थंकर चौबीस ही क्यों

जैन भूगोल में अढ़ाई द्वीप क्षेत्रों का वर्णन मिलता है। जंबु द्वीप, धातकी खंड, अर्द्धपुष्कर द्वीप—इन अढ़ाई द्वीपक्षेत्रों में पंद्रह कर्मभूमि हैं। पांच भरत, पांच एरभरत और पांच महाविदेह क्षेत्र। इन क्षेत्रों के एक सौ सत्तर भूभाग ऐसे हैं, जहां तीर्थंकर हो सकते हैं। एक समय में न्यूनतम बीस और अधिकतम एक सौ सत्तर तीर्थंकर हो

सकते हैं, किंतु सर्वज्ञों की संख्या नौ करोड़ मानी गई है। इनमें मात्र दस भूभाग—पांच भरत, पांच एरभरत ही हैं, जहां पर अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं। महाविदेह क्षेत्र में काल का यह रूप नहीं है। वहां एक सदृश (अवसर्पिणी के चौथे आरे के समान) काल रहता है। वहां तीर्थंकर की निरंतर विद्यमानता है। वहां धर्म का स्थाई रूप रहता है। भरत-एरभरत में ऐसा नहीं होता है। इसका कारण है—एक तीर्थंकर के होने के बाद दूसरे तीर्थंकर के उत्पन्न होने के बीच का समय स्वभावत: निर्धारित है। उस अंतराल को जोड़ने से तीर्थंकरों के उत्पन्न होने का समय ही समाप्त हो जाता है। प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल में एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का समय माना गया है। इस दृष्टि से चौबीस तीर्थंकरों के ही होने का अवकाश है, ज्यादा नहीं। शेष एक सौ साठ क्षेत्र महाविदेह में आ जाते हैं। वहां अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल नहीं है। एक तीर्थंकर के बाद, दूसरे तीर्थंकर का अभ्युदय हो जाता है।

क्षेत्र विशेष को लेकर प्रत्येक कालचक्र में चौबीस ही तीर्थंकर होते हैं, तेईस व पचीस नहीं हो सकते। ऐसा किसी शक्ति विशेष की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं लगा हुआ है। वस्तु स्थिति यह है कि केवली भगवंतों ने अपने ज्ञान से देखा कि अतीत के प्रत्येक काल-चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं और भविष्य में भी चौबीस ही तीर्थंकर होंगे। इसलिए उन्होंने यह कह दिया कि प्रत्येक काल-चक्र में चौबीस ही तीर्थंकर होते हैं। यदि उनके ज्ञान में तीर्थंकर कम-ज्यादा होते तो वे कम-ज्यादा कह देते, परंतु कम-ज्यादा तीर्थंकर उन्होंने अपने ज्ञान में नहीं देखा। इसलिए उन्होंने कम-ज्यादा न बता कर चौबीस ही बताए।[17]

तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। प्रकृति के नियम या स्वभाव में मानव का कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि आग उष्ण क्यों होती है? तो आप क्या उत्तर देंगे? यही न कि यह उसका स्वभाव है। धुआं ऊपर की ओर क्यों जाता है, नीचे की ओर क्यों नहीं जाता? इसका समाधान भी यही होगा कि यह उसका स्वभाव है। ऐसे ही प्रकृति स्वभावानुसार अतीत काल-चक्र में चौबीस तीर्थंकर हुए हैं और अनागत काल-चक्र में भी चौबीस तीर्थंकर ही होंगे। इसलिए कहा गया है कि तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं।

ज्योतिष शास्त्रानुसार प्रत्येक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल में चौबीस-चौबीस ही ऐसे श्रेष्ठतम मुहूर्त आते हैं, जिनमें जन्मा हुआ मनुष्य ही तीर्थंकर हो सकता है। आचार्य सोमदेव सूरि ने इसी जिज्ञासा को समाहित करते हुए लिखा है—

नियतं न बहुत्वं चेत कथमेत्ते तथा विधा:।
तिथितारााग्रहाभ्योधि भूभृत्यमृतयोमता:।।[18]

यदि वस्तुओं की संख्या नियत न हो तो तिथि, वार, नक्षत्र, तारा, ग्रह, समुद्र, पर्वत आदि नियत क्यों माने गए? जैसे ये बहुत होने पर भी इनकी संख्या नियत है।

यही प्रश्न तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने मुनि अवस्था में अपने विद्यागुरु हेमराजजी स्वामी से पूछा कि तीर्थंकर चौबीस ही क्यों? हेमराजजी स्वामी ने उत्तर दिया—यह अनादि नियम है। हमारे यहां के क्षेत्रीय कालक्रम में एक के बाद एक श्रृंखला में तीर्थंकर चौबीस ही होते हैं। क्यों का प्रश्न प्रकृति के साथ नहीं जुड़ता। कोई बताए कि दिन-रात के घंटे चौबीस ही क्यों, पचीस क्यों नहीं होते और तेईस क्यों नहीं होते? यह नैसर्गिक विश्व स्थित है। पांचों ही महाविदेह क्षेत्र में चार-चार तीर्थंकर सदा एक साथ विहरमान रहते हैं।[19]

लोगस्स में पचीस नाम कैसे

इस प्रश्न का उत्तर भी जयाचार्यश्री ने मुनि अवस्था में हेमराजजी स्वामी से बद्धाजंलिपूर्वक पूछा—मत्थेण वंदामि। लोगस्स 'उक्कित्तणं' में पचीस नाम क्यों? क्या 'चौबीसी' के स्थान पर पचीसी नहीं हो जाएगी?

हेम मुनि ने गंभीर स्वर में कहा—पैंसठिए यंत्र का मूल मंत्र है—'लोगस्स'। यह एक विचित्र प्रयोग है। यंत्र-मंत्र की साधना शक्ति जागरण के अनूठे आयाम हैं। पैंसठिया यंत्र देखा? उसमें पचीस के अंक की अपेक्षा पड़ती है। उसी अंक पूर्ति में सिद्ध योगी एक इष्ट की प्रमुख स्थापना करता है।

'लोगस्स' का पाठ पैंसठिए यंत्र का सिद्ध मंत्र है। उसमें तीर्थंकर पुष्पदंत की इष्ट प्रतिष्ठापना की गई है। 'उक्कित्तणं' किसकी रचना है? कोई नहीं बता सकता, पर वह प्रभावी मंत्र है। बेशक इसमें शक्ति संपात है। मध्य युग में पैंसठिए के जाप मंत्रों में 'धनुष पंचविंशति' कह कर पचीस का अंक जमाया गया। मल्लिनाथ भगवान की पचीस धनुष की काया थी, पर काया के साथ यंत्रांक की क्या तुक रही होगी? लेकिन 'उक्कित्तणं' में एक तीर्थंकर के दोनों (सुविधिनाथ और पुष्पदंत) का उल्लेख युक्तियुक्त है।[20]

उत्कीर्तना पूर्वी का स्वरूप

अनुयोगद्वार[21] में उत्कीर्तना पूर्वी तीन प्रकार की प्रज्ञापित हुई हैं—1. पूर्वानुपुर्वी 2. पश्चानुपूर्वी 3. अनानुपूर्वी।

पूर्वानुपूर्वी का स्वरूप

1. ऋषभ, 2. अजित.... और 24. वर्धमान—इस क्रम से इन पवित्र नामों का उत्कीर्तन (उच्चारण) करना पूर्वानुपूर्वी है।

पश्चानुपूर्वी का स्वरूप

चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान से प्रारंभ कर भावतः प्रथम ऋषभ पर्यंत (विपरीत क्रम से) उत्कीर्तन करना, नामोच्चारण करना पश्चानुपूर्वी है।

अनानुपूर्वी का स्वरूप

ऋषभ से लेकर वर्धमान पर्यंत, एक से लेकर चौबीस पर्यंत श्रेणी को स्थापित कर परस्पर गुणा करने से प्राप्त राशि में से प्रथम और अंतिम भंग को कम करने से अवशिष्ट भंग अनानुपूर्वी रूप है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'लोगस्स' के उच्चारण से केवल चौबीस अर्हत् भगवंतों की एवं बीस विहरमानों की ही स्तुति नहीं होती, अपितु सब तीर्थंकरों का एक समान स्वरूप होने के कारण अनंत वीतराग आत्माओं, सिद्ध आत्माओं की स्तुति एक साथ हो जाती है। क्योंकि भूतकाल में अनंत चौबीसियां हो चुकी हैं और भविष्य में भी अनंत चौबीसियां होने वाली हैं। सिद्ध जीव भी अनंत हैं।

ऐसा शक्तिशाली 'लोगस्स' महामंत्र हमें विरासत में मिला है। यह एक दिव्य साधना भी है। स्वाध्याय, स्तुति, ध्यान, मंत्र उपासना और आराधना भी है। इस महामंत्र को हम चैतन्य करें और आत्म-सिद्धि के पथ पर अग्रसर बनें, यही स्तुत्य है। निस्संदेह शास्त्र, मंत्र और साधना—तीनों ही दृष्टियों से 'लोगस्स' शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण है। ❖

संदर्भ :

1. भगवती—25-7 उववाई सूत्र 43
2. दसवैकालिक-बिइया चूलिका/12
3. उत्तराध्ययन-6/2
4. दसवैकालिक बिइया चूलिका/16
5. चौबीसी 19/6
6. अनुयोगद्वार कालिका श्रुत परिणाम—संख्या 147
7. जिनवाणी—प्रतिक्रमण विशेषांक; पृष्ठ 196
8. दसवैकालिक निर्युक्ति 13, 14
9. आचारांग टीका, पृष्ठ 56
10. मूलाचार—5-80, जपधवला, पृष्ठ 153, ओघनिर्युक्ति टीका, पृष्ठ 3
11. विशेषावश्यक भाष्य—गाथा—550, वृहत्कल्प भाष्य. गाथा—114, तत्त्वार्थ भाष्य—1.20, स्वार्थ-सिद्धि—1.28.
12. वृहत्कल्प भाष्य, गाथा/964, (आगम युग का जैन दर्शन, पृष्ठ 8 से उद्धृत)
13. आवश्यक निर्युक्ति—645/2
14. इसिभासिय सूत्र (जैन धर्म की व्यापकता पृ. 11 से उद्धृत)
15. बडी साधुवंदना—प्रवचन भाग 1
16. मोक्ष माला, पृष्ठ 78
17. तीर्थंकर चरित्र, पृष्ठ 8
18. यशस्तिलक चंपू—87, वीतराग वंदना, पृष्ठ 146 से उद्धृत
19. वीतराग वंदना, पृष्ठ 216
20. वही, पृष्ठ 216
21. अनुयोगद्वार, पृष्ठ 116

❖❖

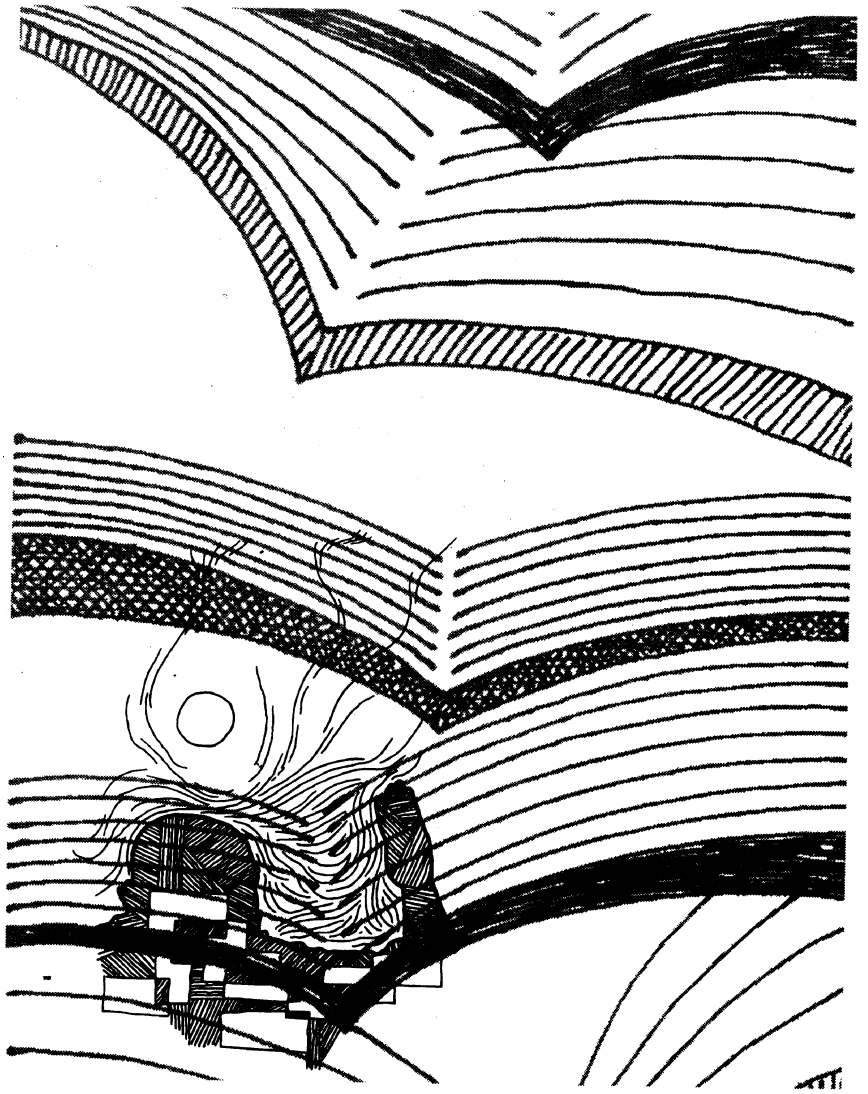

अनुभूति

हे नाथ! निवेदन यही शेष है मेरा,
तुम हरो क्षीणता सारी मेरे मन की,
दुःख-सुख को सहने का तुम मुझको बल दो,
दो मुझे शक्ति इतनी कि सफल हो सेवा,
मैं कभी दबाऊं नहीं अकिंचन जन को,
बलशाली से मैं कभी न डर-भय पाऊं,
संकीर्ण न मन हो, माथ रहे यह उन्नत,
मैं तेरे ही चरणों में शीश नवाऊं,
बस रखूं सहज ही सदा भरोसा तेरा।

—रवींद्रनाथ ठाकुर

अनुवाद : प्रयाग शुक्ल

हम जानते हैं कि त्याग धर्म है और भोग अधर्म है। संयम धर्म है, असंयम अधर्म है। धर्म अनमोल है। जो धन से प्राप्त होता है, वह धर्म नहीं है। अतः आदमी धर्म को समझे और बुराइयों का त्याग करे। वह नशा छोड़े, गुस्सा छोड़े और बेईमानी को छोड़े। धर्म को समझ कर पाप को छोड़ने वाला व्यक्ति दुख-मुक्त होता है और अधर्म के रास्ते पर चलने वाला अथवा अदृष्टधर्मा व्यक्ति अपने लिए दुख तैयार कर लेता है। इस प्रकार हमारा मानना है कि जो व्यक्ति बार-बार गुस्सा नहीं करता, मति और ऋद्धि का अहंकार नहीं करता, चुगली नहीं करता, बिना सोचे-विचारे कार्य नहीं करता, अनुशासनहीन नहीं होता, धर्म को जानने वाला, विनय में कोविद (पंडित) और संविभाग की मनोवृत्ति वाला होता है—वह दुखमुक्त बन सकता है और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

मौक्षत्व : शांति संपन्नता व अहंकार मुक्ति

आचार्यश्री महाश्रमण

जिस प्रकार धरती हमारे लिए आधार-स्वरूप है और हम धरती पर टिके हुए हैं, उसी प्रकार जो अतींद्रिय ज्ञानी हैं, केवलज्ञानी हैं—उनका बुद्धत्व और केवलज्ञान शांति पर टिका हुआ है। शांति न हो तो केवलज्ञान हो ही नहीं सकता। न केवल केवलज्ञान, अपितु सम्यक् दर्शन भी एक सीमा तक शांति पर ही आधारित होता है। शांति नहीं है तो सम्यक्त्व भी समाप्त हो जाता है। श्रावकत्व को भी शांति चाहिए, साधुत्व को भी शांति चाहिए और बुद्धत्वं को भी शांति चाहिए। आदमी को शांति संपन्न बनने के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिए मृदु व्यवहार-संपन्न बनना होगा और चंडालोचित कार्य को त्यागना होगा।

जैन वाङ्मय में एक महत्त्वपूर्ण श्लोक प्राप्त होता है—

जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे, पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए, असंविभागी न हु तस्स मोक्खो।।

दसवेआलियं सूत्र से उद्धृत इस श्लोक में आठ बातें बताई गई हैं, जो मोक्ष-प्राप्ति अथवा दुखमुक्ति में बाधक हैं। पहली बाधा है—चंडे। जो आदमी बार-बार चंडता का प्रयोग करता है, जो प्रकृति से जटिल होता है—उसके लिए दुखमुक्ति कठिन होती है। एक साधक को तो चंडालोचित आचरण करना ही नहीं चाहिए, न ही निर्दयतापूर्ण और द्वेषपूर्ण व्यवहार ही करना चाहिए। हर आदमी को मृदु व्यवहारी बनना चाहिए। साधक के लिए तो यह बात आवश्यक है ही, एक सज्जन के लिए भी यह अपेक्षित है कि वह अपने व्यवहार को शालीन, शांत और सुंदर रखे। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बहुत बार बताते रहे हैं और मेरा भी यह अनुभव है कि मृदुता ही मूल है, कठोरता कभी करनी पड़ती है, पर जहां मृदुता होती है, कोमलता होती है, वहां स्वाभाविक आकर्षण भी होता है। जहां कठोरता होती है, निष्ठुरता होती है, वहां आकर्षण नहीं रहता। आदमी यदि स्वयं शांत-कषाय वाला है, तो

दूसरों की शांति में भी निमित्त बन सकता है और लोग भी उस ओर आकृष्ट हो जाते हैं, पर आक्रोशशील आदमी दूसरों की शांति और अपनी शांति को भंग करने वाला होता है। शांति के महत्त्व को उजागर करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

जे य बुद्धा अइक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा।।

जितने अर्हत् अतीत काल में हो चुके हैं और जितने भविष्य में होंगे और यह भी कहा जा सकता है कि जितने अर्हत् वर्तमान में हैं—उन सबका आधार शांति है।

शांति के लिए दूसरी बाधा है—**मइइड्ढिगारवे**—मति और ऋद्धि का अहंकार। जो आदमी अहंकारी होता है, वह दुख-मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए आदमी को किसी बात का घमंड नहीं करना चाहिए। न धन का, न ज्ञान का और न सत्ता का गर्व करना चाहिए। धनवान लोगों के लिए मेरे तीन परामर्श हैं—पहला परामर्श है कि वे धन का अहंकार न करें। दूसरा परामर्श है कि धन के प्रति ज्यादा आसक्ति न रखें, त्याग की भावना रखें। तीसरा परामर्श है कि वे धन का कभी दुरुपयोग नहीं करें।

ज्ञानवान लोगों के लिए भी मेरे तीन परामर्श हैं—1. आदमी अपने अज्ञान को पहचाने और उसे दूर करने का प्रयास करे। 2. प्राप्त ज्ञान को दूसरों में बांटने का प्रयास करे। 3. आत्मज्ञान या विशिष्ट-ज्ञान की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। जिस आदमी के पास आत्मज्ञान है, विशिष्ट ज्ञान है—वह कभी अहंकार नहीं करेगा। मेरा मानना है कि आदमी को बुद्धि का, ऋद्धि का अहंकार करना ही नहीं चाहिए। अहंकार करने वाला दुख को प्राप्त करता है। अहंकार को छोड़नें वाला सुख, शांति को प्राप्त करता है।

शांति के लिए तीसरी बाधा है—**पिसुणे नरे**। एक चुगलखोर आदमी अपने लिए दुख की स्थितियां स्वयं ही तैयार कर लेता है। चुगलखोर वृत्ति बड़ी खराब मानी गई है। इसे एक पाप की श्रेणी में माना गया है। जिसका लक्ष्य ही छिद्रान्वेषण बन जाता है, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। किसी संस्कृत कवि ने ऐसे व्यक्ति को मच्छर से उपमित किया है—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं,
कर्णे कलौ किमपि रोति शनैः विचित्रम्।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः,
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति।।

मच्छर पहले पैरों में गिरता है, फिर पृष्ठमांस खाता है। वह कान में धीमी और मधुर, पर विचित्र ध्वनि करता है। छिद्र को देख कर वह निशंक हो उसमें प्रवेश कर जाता है। मच्छर की दुष्टता का यह एक चरित्र है। एक चुगलखोर व्यक्ति का आचरण भी मच्छर की भांति ही होता है। आदमी पिशुनता को छोड़कर दुखमुक्त हो सकता है।

शांति के लिए चौथी बाधा है—**दुःसाहस**। जो आदमी दुःसाहस करता है, वह दुख-मुक्त नहीं हो सकता। दुःसाहसिकता का अर्थ अविमृश्यकारी (बिना सोचे-विचारे काम करने वाला) किया गया है—कोई प्रसंग सामने आए और बिना चिंतन किए ही निर्णय ले लिया जाए, तो कई बार बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है, अप्रिय घटित हो सकता है।

बिना सोचे-विचारे तत्काल कोई कार्य नहीं करना चाहिए। अविवेक परम आपदाओं का स्थान है। जो सोच-विचार कर कार्य करता है, उसके पास संपदा आती है। कहा भी है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं, गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः।।

आगमकार ने बहुत ठीक कहा है कि बिना सोचे-विचारे काम करने वाला स्वतः ही दुख पैदा कर लेता है।

शांति के लिए पांचवीं बाधा है—**हीणपेसणे**। जो आदमी अनुशासनहीन होता है, अपने अग्रजों का, पूज्यों का कहना नहीं मानता है, उनकी अवमानना करता है—वह भी अपने लिए दुख को पैदा करता है। जो विनीत होता है, पूज्यजनों की आज्ञा मानने वाला होता है—वह व्यक्ति सुख को प्राप्त करता है। आज की पीढ़ी के लिए यह सोचने की बात है कि उसमें आज्ञाकारिता है या अवज्ञाकारिता? संस्कृत साहित्य में कहा गया है—**'आज्ञा गुरुणां अविचारणीयां'**—गुरु के आदेश

में किसी चिंतन की अपेक्षा ही नहीं होती, उसका पालन तत्काल करना चाहिए। आज्ञाशीलता सुख का मार्ग है और अवज्ञाशीलता दुख का मार्ग है।

शांति के लिए छठी बाधा है—**अदिट्ठधम्मे**। जो व्यक्ति धर्म को नहीं जानता, वह भी अपने लिए दुख पैदा करता है। गुजरात के राजा सिद्धराजजयसिंह ने आचार्य हेमचंद्र से कहा—'धर्म का गंभीर स्वरूप समझना कठिन है। इसलिए आप मुझे 'सामान्य धर्म' का मार्ग बताने की कृपा करें।'—आचार्य हेमचंद्र ने संस्कृत-श्लोक के माध्यम से सामान्य धर्म बताते हुए कहा—

पात्रे दानं गुरुषु विनयः सर्वसत्वानुकम्पा।
न्याय्या वृत्तिः परहितविद्यावादरः सर्वकालम्।
कार्यो न श्रीमदपरिचयः संगतिः सत्सु सम्यग्।
राजन्! सेव्यो विशदमतिना सैष सामान्यधर्मः।।

सुपात्र को दान देना, गुरु का विनय रखना, प्राणीमात्र के प्रति दया रखना, न्यायपूर्ण आचरण करना, दूसरों के हित का विचार करना, लक्ष्मी का अभिमान नहीं करना और सज्जन पुरुषों की संगति करना—सामान्य धर्म का स्वरूप है। निर्मल बुद्धि वाले व्यक्ति को इसका पालन करना चाहिए।

हम जानते हैं कि त्याग धर्म है और भोग अधर्म है। संयम धर्म है, असंयम अधर्म है। धर्म अनमोल है। जो धन से प्राप्त होता है, वह धर्म नहीं है। अतः आदमी धर्म को समझे और बुराइयों का त्याग करे। वह नशा छोड़े, गुस्सा छोड़े और बेईमानी को छोड़े। धर्म को समझ कर पाप को छोड़ने वाला व्यक्ति दुख-मुक्त होता है और अधर्म के रास्ते पर चलने वाला अथवा अदृष्टधर्मा व्यक्ति अपने लिए दुख तैयार कर लेता है।

इसी क्रम में शांति के लिए सातवीं बाधा है—**विणए अकोविए**। जो व्यक्ति विनय में अकोविद (अपंडित) है, झुकना नहीं जानता, पूज्यजनों का सम्मान करना नहीं जानता, दुराग्रह नहीं छोड़ता—वह दुखी होता है। इसलिए व्यक्ति को विनय में कुशल होना चाहिए। विनय की आराधना से ही आत्मा का हित संभव हो सकता है। आचार्य नेमिचंद्र ने इस बात की पुष्टि के लिए 'सुखबोधा' में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है—

विणया णाणं णाणाओ, दसणं दंसणाओ चरणं च।
चरणेहिंतो मोक्खो, मोक्खे सोक्खं निराबाहं।।

विनय की आराधना से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष में निराबाध सुख उपलब्ध होता है।

शांति के लिए आठवीं बाधा है—**असंविभागी**। जिस व्यक्ति में संविभाग की मनोवृत्ति नहीं होती, वह भी दुख को प्राप्त होता है। समाज में जीने वाला व्यक्ति यदि दूसरे के हिस्से को भी स्वयं लेना चाहता है, तो वहां संघर्ष की स्थिति बन जाती है। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाला व्यक्ति कहता है—'मेरा सो मेरा, तेरा भी मेरा।' इसके विपरीत उदार वृत्ति वाला व्यक्ति कहता है—'तेरा सो तेरा, मेरा भी तेरा।' जबकि एक संत व्यक्ति कहता है—'ना कुछ तेरा, ना कुछ मेरा—दुनिया रैन-बसेरा।'

जो आदमी संविभाग करना जानता है, छोड़ना जानता है, त्याग करना जानता है—वह दुखमुक्त हो सकता है। असंविभागी व्यक्ति कभी सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस प्रकार हमारा मानना है कि जो व्यक्ति बार-बार गुस्सा नहीं करता, मति और ऋद्धि का अहंकार नहीं करता, चुगली नहीं करता, बिना सोचे-विचारे कार्य नहीं करता, अनुशासनहीन नहीं होता, धर्म को जानने वाला, विनय में कोविद (पंडित) और संविभाग की मनोवृत्ति वाला होता है—वह दुखमुक्त बन सकता है और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

दुखमुक्ति और मोक्ष के लिए शांत मनोवृत्ति जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार जीवन का सम्यक् लक्ष्य भी निर्धारित होना जरूरी है। अलबत्ता कहा जा सकता है कि लक्ष्य निर्धारण ही पर्याप्त नहीं होता, उस ओर गति के लिए सही मार्ग का अवलंबन भी जरूरी है। ऐसा होने पर ही 'मोक्ष' पाया जा सकता है।

इस संसार में दो कोटि के मनुष्य हैं। प्रथम कोटि में वे लोग समाविष्ट हैं, जो अपने जीवन का सम्यक् लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पाते और दूसरी कोटि में वे लोग आते

हैं, जो अपने जीवन का सम्यक् लक्ष्य निर्धारित करने में सफल हो जाते हैं। इस कोटि में वे ही लोग आते हैं, जो सुसंस्कार और सुकृत-संपन्न होते हैं। अलबत्ता ऐसे लोग बहुत कम होते हैं। संसार के अधिकांश लोग लक्ष्य-निर्धारण के अभाव में प्रथम कोटि में ही रह जाते हैं।

जीवन की सफलता के लिए मात्र सम्यक् लक्ष्य-निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है। लक्ष्य-निर्धारण के साथ-साथ वहां तक पहुंचाने वाले सही मार्ग का ज्ञान होना भी आवश्यक है, उस मार्ग पर सम्यक् गति करना भी नितांत अपेक्षित है।

जीवन का सम्यक् लक्ष्य क्या होना चाहिए? अध्यात्म के क्षेत्र में जीवन का लक्ष्य मोक्ष माना गया है। हालांकि उपलक्ष्य अनेक हो सकते हैं, पर अंतिम लक्ष्य परम आनंदमय आत्म-स्वरूप को प्राप्त करना ही होता है। मोक्ष-प्राप्ति की कामना बहुत बड़ी है। अनेक जन्मों की साधना के बाद, समस्त कर्मों से मुक्त होने के बाद ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान जीवन में मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताते हुए कहा गया है—

निर्जितमदमदनानां, मनोवाक्कायविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानां, इहैव मोक्षः सुविहित्तानाम्।।

जिसने अहंकार और काम को जीत लिया। जो मन, वचन और शरीर के विकारों से मुक्त हो गया। जो पर-पदार्थ की आशाओं से निवृत्त हो गया—उसे यहीं पर मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

अहंकार आदमी की एक दुर्बलता है। मन के प्रतिकूल काम होने पर, किसी के द्वारा अपमानित होने पर या किसी बात को स्वीकार न करने पर आदमी का अहंकार उभर आता है। यही अहंकार अंततः गुस्से को पैदा करता है। इसलिए व्यक्ति अपने अहंकार को विगलित करने का प्रयास करे।

जीवन की पवित्रता के लिए जहां अहंकार को विगलित करना जरूरी है, वहीं ब्रह्मचर्य की साधना भी बहुत जरूरी है। इस संदर्भ में प्राचीन आचार्यों ने तो यहां तक कह दिया—**'मरणं बिंदुपातेन, जीवनं बिंदुधारणात्'**—ब्रह्मचर्य जीवन है और अब्रह्मचर्य मृत्यु है। एक गृहस्थ साधक के लिए पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य को स्वीकार करना कठिन होता है। इसलिए उनके लिए 'स्वदार-संतोष' व्रत की बात कही गई है। उनके लिए उन्मुक्त भोग वांछनीय नहीं होता। कामवृत्ति पर नियंत्रण रखने के लिए उनके सामने कुछ आदर्श रहते हैं। जैसे—• पर-स्त्रीगमन नहीं करना। • वेश्यागमन नहीं करना। • अप्राकृतिक मैथुन सेवन नहीं करना। • व्यावसायिक वृत्ति से विवाह संबंधों को अपना समर्थन न देना। • तीव्र कामभोगों की अभिलाषा न करना।

ब्रह्मचर्य को सब व्रतों का शिरोमणि माना गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है—

मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जाहित्थिओ बालमणोहराओ।।

आदमी काम को जीतने की साधना करे और जो काम को जीत लेता है, उसको यहीं पर मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जिसका मन, वचन और शरीर विकारों से रहित होता है, वह यहीं मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। जिसने आक्रोश, लोभ, भय, अहंकार आदि को जीत लिया—वह मोक्ष के निकट पहुंच जाता है। एक साधक की मुख्य साधना भी यही होती है कि वह विकारों का सर्वथा नाश करने का प्रयत्न करे।

आदमी पर-पदार्थों के प्रति आशा न रखे। जहां आशा का भाव होता है, वहां निराशा का भाव भी आ सकता है। इसलिए आदमी अपने प्रति संतुष्ट रहे। जब पर-पदार्थों के प्रति आशा के भाव से कोई विनिवृत्त हो जाता है, मानसिक, वाचिक और कायिक विकारों से दूर हो जाता है तो उस व्यक्ति को मोक्ष यहीं मिल सकता है। ❖

मैं बुद्धिमान ही नहीं जन्मा था। मुझे पुरानी शिक्षाओं से प्रेम है और मैंने उनके स्तर तक पहुंचने के लिए कड़ी मेहनत की है।

—कन्फ्यूश्यस

समस्या का मूल व्यक्ति है, तो समाधान का उत्स भी वही है। व्यक्ति को बदले बिना समाज और राष्ट्र-सुधार के प्रयत्न सफल नहीं हो सकते? स्वस्थ समाज रचना के कितने ही प्रयत्न हुए हैं, पर क्या वे सफल हुए? यदि व्यक्ति की मनोवृत्ति बदल जाती, तो क्या साम्यवाद विफल होता? समतावादी समाज रचना की क्रांति इसलिए सफल नहीं हुई कि उसके नियंता ही साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से ग्रसित हो गए। संचालक पर बहुत कुछ निर्भर होता है। सबसे सुखद स्थिति यह मानी जाती है कि समाज व्यवस्था भी अच्छी हो और उसका संचालक व्यक्ति भी। अलबत्ता यह स्थिति संतोषप्रद मानी जा सकती है कि समाज व्यवस्था के अच्छा न होने पर भी व्यक्ति अच्छा बना रहे। इस स्थिति में यह आश्वासन भी छिपा है कि समाज व्यवस्था को भी एक दिन व्यक्ति अच्छा बना देगा, बदल देगा।

क्यों होता है आर्थिक असदाचार : जरा सोचें!

मुनि धनंजयकुमार

मनुष्य की इच्छाएं कभी पूर्ण नहीं होतीं। मनुष्य एक इच्छा संजोता है, वह पूरी नहीं होती कि उससे पहले दूसरी इच्छा उभर आती है। इस तरह इच्छाओं का अंतहीन चक्र चलता रहता है। इच्छाएं जब समुचित तरीके से पूर्ण नहीं होतीं, तब मनुष्य अनैतिक आचरण के लिए विवश हो उठता है। अंतहीन इच्छा का यही चक्र आर्थिक असदाचार की उर्वर भूमि का कारण बनता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि आर्थिक असदाचार का पहला कारण है—असीमित इच्छा। इच्छा चेतन प्राणी का लक्षण है। जब इच्छाएं असीम बनती हैं, तब समस्याएं भी पैदा होने लगती हैं। भगवान महावीर का वचन है—**इच्छा हु आगाससमा अणंतिया**—इच्छा आकाश के समान अनंत है।

आर्थिक असदाचार का दूसरा कारण है—लगातार बढ़ रही आवश्यकताएं। जहां जीवन है, वहां अपेक्षाएं और आवश्यकताएं तो होती ही हैं। सब जानते हैं कि कोई भी सामाजिक प्राणी निरपेक्ष जीवन नहीं जी सकता। रोटी, पानी, शिक्षा और चिकित्सा मनुष्य की प्राथमिक अपेक्षाएं हैं, पर असीम आवश्यकताओं की पूर्ति कभी नहीं हो सकती। लगातार बढ़ती हुई आवश्यकताओं से आर्थिक असदाचार के बीजों को सिंचन मिलता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने मनुष्य की ऐसी असीमित आवश्यकताओं पर कहा है—

प्रथममशनपानप्राप्तिवांछाविहस्ता-
स्तदनु वसनवेश्माऽल—कृतिव्यग्रचित्ताः।
परिणयनमपत्याऽवाप्तिमिष्टेंद्रियाऽर्थान्,
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाऽश्नुवीरन्?

अर्थ यह कि पहली समस्या है—मनुष्य भोजन-पानी के लिए व्याकुल है। दूसरी समस्या—वस्तु, घर और अलंकार के लिए व्यग्र है। तीसरी समस्या—विवाह,

संतान प्राप्ति, मनोज्ञ इंद्रियविषयों को निरंतर पाने की अभिलाषा बनी हुई है। इस स्थिति में उसे स्वास्थ्य की फिक्र ही कहां है?

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार 'पहले भूख की आवश्यकता होती है, फिर आवश्यकता ही भूख बन जाती है। भूख के लिए आवश्यकता को तो पूरा किया जा सकता है, किंतु आवश्यकता की भूख को पूरा करने के लिए इस दुनिया में न कोई साधन है और न कोई शक्ति है। न आज का अर्थशास्त्री इसे पूरा कर सकेगा, न कोई शासन उस भूख को मिटा सकेगा। जब आवश्यकता की भूख जग जाती है, तब कोई भी दुख से मुक्त नहीं हो सकता।'

आर्थिक असदाचार का तीसरा कारण है—भोगवादी मानसिकता। अर्थार्जन के साथ भोग-उपभोग की बात जुड़ी हुई है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में एक रूपक के माध्यम से इस तथ्य को समझाया गया है। पूछा गया है—'परिग्रह का जो वृक्ष है, उसका फल क्या है?'—कहा गया—'कामभोग परिग्रह-रूपी वृक्ष के पुष्प-फल हैं।'

एक सामाजिक प्राणी कामभोग से सर्वथा विरत नहीं हो सकता। एक व्यक्ति अधिक से अधिक भोग की सामग्री और इंद्रियों को तृप्ति देने वाले पदार्थ जुटाना चाहता है। आज पदार्थ निर्माण का आधार कामना की पूर्ति और अधिकतम सुविधा है। इस दृष्टिकोण ने भोगवादी संस्कृति को उद्दीपन दिया है। असीम इच्छा, असीम आवश्यकता और असीम पदार्थ वर्तमान जीवनशैली का केंद्रीय आधार बनता जा रहा है। पदार्थवादी और उपभोगवादी संस्कृति ने जहां एक ओर मानसिक तनाव और अशांति को जन्म दिया है, वहीं दूसरी ओर आर्थिक असदाचार के बीज भी अंकुरित किए हैं।

आर्थिक असदाचार का चौथा कारण है—स्वामित्व विस्तार की मनोवृत्ति। मनोविज्ञान के अनुसार—'अधिकार की भावना' मनुष्य की एक मनोवृत्ति है। वह अपने स्वामित्व को विस्तार भी देना चाहता है। इस स्वामित्व विस्तार की प्रवृत्ति ने साम्राज्यवादी मनोवृत्ति को पनपने का अवसर दिया है। स्वामित्व की इस लालसा ने अनुचित उपायों को आश्रय दिया है। आर्थिक असदाचार उसकी ही स्वाभाविक परिणति है।

आर्थिक असदाचार का पांचवां कारण है—लोभ की मनोवृत्ति। मनुष्य में लोभ की भावना प्रबल है। जो प्राप्त है, उसमें संतुष्टि नहीं है। आगम का प्रसिद्ध वचन है—**जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई**—लाभ से लोभ बढ़ता है। लोभ के कारण वह अनेक अनर्थकारी कार्य करता है। वह अधिक धन पाने के लिए अनैतिक एवं राज्य निषिद्ध कार्य भी कर लेता है। प्रसिद्ध नीति श्लोक है—

यावद् भ्रियेत जठरं, तावद् युक्तं हि देहिनाम्।
अधिकं योभिमन्येत, स स्तेनो दंडमर्हति।।

एक शरीरधारी प्राणी के लिए उतना ही उचित है, जितने से उसका पेट भरे, वह भूखा न रहे। जो इससे अधिक चाहता है—वह चोर है, दंड के योग्य है।

यह श्लोक आज नीति-ग्रंथों की ही संपदा रह गया है। मानव के जीवन-व्यवहार में इसके दर्शन दुर्लभ हैं। महामात्य चाणक्य भारतीय राजनीति के शीर्ष पुरुष रहे हैं। उन्होंने राज्य का संचालन करते हुए एक संन्यासी का सा जीवन जीया। चाणक्य नदी के किनारे एक कुटिया में रहते थे। मुद्राराक्षस ग्रंथ में उनकी सादगी और निर्लोभता का सजीव चित्रण इस तरह किया गया है—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां,
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एष।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणामिराभि,
रुपनतपटलानां दृश्यते जीर्णकुड्यम्।।

चाणक्य जिस कुटिया में रहता था, वहां गोबर के कुछ उपले पड़े थे, कुछ पत्थर पड़े थे। वहीं कुछ खाने का सामान रखा हुआ था। ऐसी साधारण कुटिया, इतने सामान्य उपकरणों को देख कर यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि एक राज्य का संचालक इतनी साधारण स्थिति में जी रहा है। क्या महामात्य चाणक्य की जीवन-शैली से कोई तुलना आज के राजनेताओं की जीवनशैली से हो सकती है?

आर्थिक असदाचार का छठा कारण है—क्रूरता की मनोवृत्ति। लोभ और क्रूरता में एक अनुबंध जैसा है। वस्तुतः क्रूरता का जनक लोभ है। जहां लोभ की प्रबलता होती है, वहां क्रूरता की वृत्ति जागृत हो ही जाती है।

भगवान महावीर ने एक बारहव्रती श्रावक के लिए पंद्रह कर्मादानों का निषेध किया। कर्मादान का अर्थ उन व्यवसायों से है, जो बहु हिंसाजन्य क्रूर कर्म हैं। भगवान महावीर ने आजीविका के लिए ऐसे हिंसक व्यवसायों को अकरणीय माना है। व्यवसाय के क्षेत्र में करणीय और अकरणीय की भेद रेखा आज समाप्तप्राय हो गई है। विलास और भोग ने क्रूरता की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिए निःसंकोच अपराध हो रहे हैं। अजन्मे भ्रूण की हत्या भी इसी लोभजनित क्रूरता का ही वीभत्स कृत्य है। मनुष्य धन के लिए प्राण-हरण में भी संकोच नहीं करता। इस क्रूरता में आर्थिक असदाचार के घृणित स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है। अपहरण, फिरौती और डकैती भी धंधा बन गया है।

शोषण की समस्या भी इसी क्रूरता की निष्पत्ति है। मनुष्य काम अधिक लेना चाहता है, पैसा कम देना चाहता है। जहां अधिक पाना होता है, वहां दूसरे का शोषण करना ही होगा। क्रूरता की वृत्ति के बिना श्रम का शोषण नहीं हो सकता। महावीर के युग में दास प्रथा प्रचलित थी। आज बंधुआ मजदूर उसी दास प्रथा का बदला हुआ संस्करण है। श्रम का शोषण अन्याय है। फिर इसे अर्थ शुचि कैसे कहा जा सकता है?

आर्थिक असदाचार का सातवां कारण है—प्रतिस्पर्धा और प्रदर्शन की भावना। व्यक्ति में स्पर्धा का हीन व अहंकारजन्य भाव घर किए है, प्रदर्शन की कुत्सित वृत्ति पनप रही है। आर्थिक विकास के साथ आर्थिक प्रतिस्पर्धा प्रबल बनती जा रही है। जहां प्रतिस्पर्धा और विकास का केंद्रीय तत्त्व अर्थ बन जाता है, वहां अनेक समस्याएं उभर आती हैं। इस स्थिति में साधन-शुद्धि की भावना ही नहीं रहती है। व्यक्ति अनैतिक और अप्रामाणिक आचरण करते हुए सकुचाता नहीं है।

प्रतिस्पर्धा के साथ निरर्थक व अहंकारजन्य बड़प्पन के प्रदर्शन का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। व्यक्ति 'नंबर वन' बनना भले नहीं चाहता, पर दिखना चाहता है। भौतिकवाद का शर्मनाक प्रदर्शन ऐसी ही भावना से उपजता है। आक्रोश और प्रतिशोध की आग तभी उद्दीप्त होती है।

आश्चर्य इस बात का है कि सर्वाधिक धनी लोगों की, सर्वाधिक भ्रष्ट देशों की, सर्वाधिक सुंदर और कामुक लोगों की सूची तो प्रकाशित होती है, किंतु सदाचार और चारित्र-संपन्न लोगों की सूची शायद प्रकाशित नहीं होती। इन सूचियों का प्रकाशन मानव मन की विकृतियों को उभारने का प्रयत्न ही है। यह समाज के अधःपतन का सूचक है। वैभव और विलास का जघन्य प्रदर्शन आर्थिक असदाचार का महिमामंडन है।

आर्थिक असदाचार का आठवां कारण है—स्वार्थ चेतना। यह माना गया है कि मनुष्य प्रकृति से स्वार्थी होता है। जहां स्वार्थ का प्रश्न आता है, वहां सबकुछ गौण हो जाता है। वह अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के स्वार्थ का विघटन करने में भी संकोच नहीं करता। संस्कृत का बहुत ही मार्मिक श्लोक है—

नैव पश्यति जन्मांधो, कामांधो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तः, दोषान् अर्थी न पश्यति।।

जन्मांध मनुष्य तो देख नहीं सकता, पर कामांध और मदोन्मत्त मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देख पाता। इस प्रसंग में श्रीमद्राजचंद्र की एक घटना उल्लेखनीय है। उन्होंने किसी व्यक्ति से हीरों का सौदा किया। तभी हीरों के भाव तेज हो गए। सामने वाले व्यक्ति को भारी घाटा हो रहा था। श्रीमद्राजचंद्र ने उस व्यक्ति को बुला कर कहा—'एग्रीमेंट का रुक्का दो।'—उस व्यक्ति ने कहा—'राजचंद्र भाई! अभी मेरे पास रुपए नहीं हैं, पर मैं आपका पाई-पाई चुका दूंगा।'—वह रुक्का देने की बात टालता रहा। राजचंद्र ने बार-बार 'रुक्का' देने का आग्रह किया। बहुत आग्रह के बाद रुक्का श्रीमद्राजचंद्र के हाथ में दे दिया। श्रीमद्राजचंद्र ने उस रुक्के को फाड़ते हुए कहा—'हमारा सौदा रद्द है। राजचंद्र दूध पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता।'

बीदासर के एक श्रावक थे—उत्तमचंदजी बैंगानी। अकस्मात उनका जवान लड़का मर गया। किसी ज्योतिषी ने बताया—'आपकी अंगुली में हीरे की अंगूठी है। यह हीरा आपके लिए शुभ नहीं है। आप इसे बेच दें।'

उनके एक मित्र ने कहा—'यह हीरा मुझे दे दो, मैं किसी को बेच देता हूं।'

उत्तमचंदजी बोले—'यह लो हीरा। इसे कुएं में डाल आओ।'

मित्र बोला—'इतना कीमती हीरा कुएं में कैसे डालूं? मैं इसे बेच देता हूं।'

उत्तमचंदजी बोले—'इसे बेचना नहीं है। इसे कुएं में ही डाल आओ।'

मित्र ने फिर बेचने का आग्रह किया। उन्होंने कहा—'मैं किसी दूसरे के पुत्र की मृत्यु से उसे दुखी देखना नहीं चाहता।' जिस मनुष्य में परार्थ और परमार्थ चेतना का विकास होता है, वह निष्करुण और संवेदना-शून्य नहीं बन सकता। एक सामाजिक व्यक्ति के लिए अर्थ की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किंतु जहां अर्थ ही सबकुछ बन जाता है—वह कुछ भी क्षम्य-अक्षम्य कर सकता है। वहां अनेक विकृतियां और अपराध जन्म ले लेते हैं।

आर्थिक असदाचार का नौवां कारण है—अर्थ का अभाव और अतिभाव। यह मान लिया गया है कि अभाव में ही स्वभाव बिगड़ता है। स्वभाव की विकृति का बड़ा कारण अभाव है। अर्थ का अभाव, गरीबी, बेरोजगारी और आय के समुचित साधन नहीं होते हैं, तो हिंसा और अपराध विवशता बन जाती है, पर सभी निर्धन व्यक्ति अपराधी नहीं होते। अपराध का एक कारण गरीबी है, बेरोजगारी है। रोटी की समस्या अपराध का कारण बनती है, पर समाज के लिए यह सोचना जरूरी है कि आजीविका का साधन यदि उपलब्ध नहीं है, तो आदमी जीवन कैसे चलाएगा?

नक्सलवाद अथवा आतंकवाद का एक बड़ा कारण भूख और गरीबी है। एक ओर अभाव की स्थिति है, दूसरी ओर अतिभाव की स्थिति है। एक ओर सुविधा, वैभव-विलास के प्रचुर साधन हैं, दूसरी ओर प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या बनी हुई है। इस आर्थिक विषमता ने प्रतिक्रिया और प्रतिशोध की अग्नि को प्रज्वलित किया है। नक्सलवाद और आतंकवाद इसी प्रतिक्रिया अथवा प्रतिशोध की एक परिणति है।

आर्थिक असदाचार के उपर्युक्त कारणों में कुछ कारण व्यक्ति-सापेक्ष हैं और कुछ कारण समाज-सापेक्ष। आर्थिक असदाचार के और भी अनेक कारण हो सकते हैं। प्रश्न है—क्या इन कारणों का निवारण हो सकता है?

आर्थिक असदाचार के दो प्रमुख कारक तत्त्व हैं—1. व्यक्ति की मनोवृत्ति और 2. समाज व्यवस्था। केवल व्यक्ति की मनोवृत्ति बदले और समाज की व्यवस्था न बदले—तो समस्या का समाधान नहीं हो सकता। केवल समाज व्यवस्था बदले और व्यक्ति की मनोवृत्ति न बदले—तो भी समस्या सुलझ नहीं सकती। आर्थिक शुचिता के लिए व्यक्ति की मनोवृत्ति और समाज व्यवस्था—दोनों में बदलाव जरूरी है।

हमें पहले व्यक्ति की मनोवृत्ति को बदलना होगा। व्यक्ति की मनोवृत्ति बदलेगी, व्यक्ति सुधरेगा तो समाज स्वतः बदल जाएगा। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी का प्रसिद्ध सूक्त रहा है—'सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से राष्ट्र स्वयं सुधरेगा।'

समस्या का मूल व्यक्ति है, तो समाधान का उत्स भी वही है। व्यक्ति को बदले बिना समाज और राष्ट्र-सुधार के प्रयत्न सफल नहीं हो सकते? स्वस्थ समाज रचना के कितने ही प्रयत्न हुए हैं, पर क्या वे सफल हुए? यदि व्यक्ति की मनोवृत्ति बदल जाती, तो क्या साम्यवाद विफल होता? समतावादी समाज रचना की क्रांति इसलिए सफल नहीं हुई कि उसके नियंता ही साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से ग्रसित हो गए। संचालक पर बहुत कुछ निर्भर होता है। सबसे सुखद स्थिति यह मानी जाती है कि समाज व्यवस्था भी अच्छी हो और उसका संचालक व्यक्ति भी। अलबत्ता यह स्थिति संतोषप्रद मानी जा सकती है कि समाज व्यवस्था के अच्छा न होने पर भी व्यक्ति अच्छा बना रहे। इस स्थिति में यह आश्वासन भी छिपा है कि समाज व्यवस्था को भी एक दिन व्यक्ति अच्छा बना देगा, बदल देगा।

आर्थिक शुचिता का प्रश्न व्यक्ति के चरित्र से जुड़ा हुआ है। आर्थिक शुचिता का निमित्त है—वातावरण, परिस्थिति और व्यवस्था। उसका उपादान है—भाव और मन की शुचिता। मन और भाव की अशुचिता के बिना मनुष्य असदाचार में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः अशुचिता पहले भाव और मन में आएगी, फिर वह व्यवहार में झलकेगी। शेष पृष्ठ 58 पर

भारत संयम, सादगी, आर्थिक शुचिता, अनासक्ति आदि सद्गुणों की सौरभ से महान रहा है। कहां लुप्त हो गया आज वह आदर्श? आज तो धनबल और बाहुबल छाया हुआ है। तभी भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिल रहा है। भ्रष्टाचार एक विकराल रोग की तरह फैल रहा है। इसको मिटाने के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित 'अणुव्रत आंदोलन' की आचार-संहिता को अपनाकर व्यक्ति अपनी सोच और मानसिकता में परिवर्तन ला सकता है। उन्होंने एक उद्घोष दिया—'संयमः खलु जीवनम्'—संयम ही जीवन है। इस उद्घोष को अपना लें तो सारा वातावरण बदल जाएगा।

संयमः खलु जीवनम् : निहित है विष-बेल का शमन

साध्वी जयमाला

वर्तमान जीवनशैली दिनो-दिन पदार्थ केंद्रित जीवनशैली होती जा रही है। यह वह जीवनशैली है, जो कहती है—खाओ-पीओ और मौज-मस्ती से जीओ। अपनी सुख-सुविधाओं को जुटाने के लिए आज का मनुष्य अहर्निश भौतिक सामग्री बटोरता रहता है और येन-केन-प्रकारेण, उचित-अनुचित रूप से अर्थ-संग्रह करता है। भगवान महावीर की वाणी है—

सुवण्ण रूप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलास समां असंखया
नरस्स बुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगास समा अणंतया

अर्थात्—लोभी व्यक्ति को सोने व चांदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत भी मिल जाएं, तो भी उसको संतोष नहीं होता। क्योंकि उसकी इच्छाएं आकाश के समान अनंत है।

अर्थ और भौतिक पदार्थ कभी तृप्ति नहीं दे सकते। विज्ञान ने जो बाहरी आकर्षण दिए हैं, उससे कामना और वासना के उभरने के अवसर ही मिलते हैं। आदमी की लालसा इसीलिए विष-बेल की तरह बढ़ती जा रही है। हम एक उदाहरण से इसे समझें—एक संन्यासी के पास भिक्षा मांगने का कटोरानुमा कोई बरतन था। घर-घर में भिक्षा मांगते-मांगते वह राजदरबार में जा पहुंचा और कहने लगा—मेरा यह पात्र जब भरेगा, तभी मैं भोजन करूंगा। राजा के पास कोई कमी नहीं थी। भंडारी को आदेश दिया कि संन्यासी को कटोराभर स्वर्ण मुहरें दान में दे दो। भंडारी ने कटोरे में स्वर्ण मुहरें डाल दीं, मगर कटोरा भरा नहीं। सारा खजाना खाली हो गया। राजा और दर्शकों को आश्चर्य हुआ कि भंडार खाली हो गया, फिर भी कटोरा भरा क्यों नहीं? राजा ने इसका रहस्य जानना चाहा। तब संन्यासी ने कहा—राजन! यह कटोरा आदमी की खोपड़ी से बनाया हुआ है। पशु-पक्षी तो खा-पीकर संतोष कर लेते हैं, किंतु आदमी का मन अर्थ और पदार्थ से क्या कभी भरा है? नहीं। बल्कि, वह तो आगे से आगे और अधिक पाने की लालसा में लगा रहता है। जब तक मन में संतुष्टि नहीं होती, तब तक उसे कभी भरा नहीं जा सकता।

आज जनमानस का ध्येय अधिकाधिक पैसा कमाने

में ही लगा हुआ है। इसीलिए आज चारों ओर भ्रष्टाचार के काले बादल मंडरा रहे हैं। संतरी से लेकर मंत्री तक, गरीब से अमीर तक, क्लर्क से अफसर तक इसमें लिप्त हैं। देश के कर्णधार, तथाकथित राजनेता भी अधिकांशत: भ्रष्ट आचरण में डूबे हुए हैं। एक समय था कि यदि कोई गलत तरीके से रिश्वत लेते पकड़े जाता था तो न केवल सजा मिलती थी, समाज से बहिष्कृत हो जाने का खतरा रहता था। बदनामी होती थी और वैसा व्यक्ति समाज की नजरों से गिर जाता था। मगर, इन वर्षों में सबकुछ बदल गया है। लोगों ने भ्रष्टाचार को जीवन की अनिवार्यता के रूप में स्वीकार कर लिया है। वर्तमान में न रिश्वत देने-लेने का भय है और न ही उन्हें किसी तरह का अपराध-बोध होता है। इसीलिए भ्रष्टाचार और बड़े-बड़े घोटाले करके लोग अधिक धनवान बनना चाहते हैं। आए दिन घोटालों की कहानियां सामने आ रही हैं।

भारत गरीब देशों की गणना में आता है, लेकिन यहां दुनिया के बड़े अमीर भी बसते हैं। आज की राजनीति भी ऐशोआराम और दौलत के अंबार लगाने वाली बन गई है और अपराधियों की शरणस्थली भी बनती जा रही है।

इस भ्रष्टाचार को बढ़ाने में समाज के अभिजनों, धनिकों, व्यापारी वर्ग तथा नेताओं की भी अहम भूमिका रहती है। यह सही है कि कोई इनसान लालच से मुक्त नहीं है। उचित-अनुचित साधनों से धन-संग्रह के कारण ही भ्रष्टाचार की पगडंडी धीरे-धीरे राजमार्ग बनता जा रहा है। धन की अंधी होड़ तथा दौड़ की मानसिकता ने साधन की शुद्धता का भाव दरकिनार कर दिया है। धन, संपत्ति, लालच और सर्वोत्कृष्ट कहलाने की झूठी भूमिका और प्रतिस्पर्धा भ्रष्टाचार को बढ़ाने में अग्रणी है।

भ्रष्टाचार कब फैलता है? जब व्यक्ति लोभ में आकंठ डूब जाता है, भ्रष्टाचार तब फैलता है—जब आदमी शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन करता है। जब कोई शोषण-अत्याचार को चुपचाप सहता रहता है, भ्रष्टाचार तब फैलता है जब व्यक्ति नीति-मर्यादा, प्रामाणिकता, नैतिकता को भूल जाता है, तब भ्रष्टाचार फैलता है।

भ्रष्टाचारी का कोई मजहब, धर्म और ईमान नहीं होता। जब बड़े-बड़े लोग ही ईमानदार नहीं होंगे, सदाचारी नहीं होंगे, नैतिक नहीं होंगे—तो भ्रष्टाचार मिटाने की बात सोची ही कैसे जा सकती है? बड़े आदमी जैसा आचरण करते हैं, शेष लोग भी उन्हीं का अनुसरण करते हैं। कहा भी है—**'महाजनो येन गत: सो पंथा:'।**

भ्रष्टाचार कोई अकल्पनीय घटना नहीं है। आजादी से पूर्व अंग्रेज शासकों, राजा-महाराजाओं को भेंट स्वरूप नजराने के रूप में उन्हें संतुष्ट करने के लिए प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप में धन दिया जाता रहा है। आज यह महा बीमारी की तरह अमरबेल की भांति फलती-फूलती जा रही है। आज भ्रष्टाचारियों ने यह नाम बदलकर शिष्टाचार कर दिया है। उनको किसी भी प्रकार का भय नहीं रहा, न जेल जाने का और न ही लोकाचार का। इसीलिए यह दिनो-दिन विकराल रूप धारण कर रहा है। स्थिति दिन-प्रतिदिन बद से बदतर होती जा रही है। दूसरी ओर गरीबी का 'ग्राफ' निरंतर बढ़ रहा है। गरीब अधिक गरीब बन रहे हैं, अमीर और अधिक अमीर हो रहे हैं। शासन कहता है कि हमारा देश महाशक्तिशाली बनने के मार्ग पर अग्रसर है, लेकिन चारों ओर आतंकवाद, रिश्वतखोरी, झूठे-मानदंड, पद-लोलुपता, धन-लोलुपता, अनुशासनहीनता, चरित्रहीनता से देश की प्रतिष्ठा घट रही है।

जीवन को संवारने वाले दो तत्त्व हैं—अध्यात्म और नैतिकता। एक युग था कि भारत की छवि साफ-सुथरी थी। सादगी, संयम और चरित्र को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता था। भ्रातृभाव, सांप्रदायिक सौहार्द, प्रामाणिकता और नैतिकता का महत्त्व था। इन्हीं सद्गुणों के कारण भारत जगतगुरु कहलाया। यहां की संस्कृति आत्मविश्वास को, अध्यात्म को मान कर चलती थी। भारत की धरा महापुरुषों की जननी थी। भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध के सदुपदेश जन मानस को आज भी सही पथ दर्शन देते हैं। अनेक ऋषि-मुनियों ने यहां घोर तपस्या करके स्वयं का कल्याण तो किया, जन-कल्याण का रास्ता भी बतलाया। भारतीय जीवनशैली त्याग व संयम प्रधान रही है। धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक और पारंपरिक रूप में भारतीय संस्कृति की अलग पहचान रही है।

भारतीय लोगों की जीवनशैली कैसी है—यह जानने

के लिए यूनान का सम्राट सिकंदर भारत आया। सिकंदर के दिमाग में तब अनेक जिज्ञासाएं उमड़ रही थीं। भ्रमण करते हुए वह तक्षशिला, नालंदा पहुंचा। उस समय ये स्थान युग के जाने-माने शिक्षा केंद्र थे। वह शहर के बाहर एक खेत में रुका। खेत में किसी मामले को लेकर सभा जुड़ी हुई थी। काफी गंभीर मामले में लोग परस्पर उलझे हुए थे। सिकंदर यह दृश्य देख रहा था। एक व्यक्ति को निकट बुला कर सिकंदर ने पूछा—किस विषय को लेकर चर्चा हो रही है। तब उस व्यक्ति ने सारी हकीकत सुनाते कहा—किसी ने अपना खेत बिक्री कर दिया और खेत के नए मालिक ने खेत जोत भी लिया। तब हल चलाते समय स्वर्ण मुद्राओं से भरा एक कलश धरती में से निकला। तब वह जमीन के पूर्व मालिक को बुला कर स्वर्ण भरा कलश सौंपने लगा। पूर्व मालिक ने कहा—खेत पर अब मेरा कोई अधिकार नहीं, मैंने खेत बेच दिया, अतः इस कलश के अधिकारी तुम ही हो। लेने वाले ने कहा—मैंने जमीन खरीदी है, न कि खजाना। इस पर मेरा अधिकार नहीं है। खेत खरीदने वाला स्वर्णकलश नहीं चाहता और बेचने वाला भी लेना नहीं चाहता। इसलिए पंचायत बुलाई है। अब पंच क्या फैसला करते हैं, वह सुनने के लिए सब गांववासी एकत्रित हुए हैं।

सिकंदर भी यह फैसला सुनने के लिए खेत में ही रुक गया। पंचों ने दोनों को बुला कर पूछताछ की, मगर दौनों ही इनकार हो गए। पंचों ने कहा—बंधुओ! स्वर्णभरा कलश ये दोनों ही अस्वीकार कर रहे हैं, अतः यह स्वर्णकलश अपने गांव में विश्वविद्यालय को सौंप रहे हैं। पंचों का यह निर्णय सुन कर जनता और यूनान का सिकंदर, दोनों मालिकों की निःस्पृहता देख हतप्रभ रह गए। सारांश यह है कि एक समय था—जब भारत में अर्थ के प्रति इतनी अनासक्ति, इतनी निःस्पृहता थी, वहीं आज धन के प्रति कितनी आसक्ति है! सिकंदर के मन में आया कि मैं लूट-पाट करके सर्वस्व हड़पना चाहता हूं। धिक्कार है—मेरे जीवन को।

भारत संयम, सादगी, आर्थिक शुचिता, अनासक्ति आदि सद्गुणों की सौरभ से महान रहा है। कहां लुप्त हो गया आज वह आदर्श? आज तो धनबल और बाहुबल छाया हुआ है। तभी भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिल रहा है। भ्रष्टाचार एक विकराल रोग की तरह फैल रहा है। इसको मिटाने के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित 'अणुव्रत आंदोलन' की आचार-संहिता को अपनाकर व्यक्ति अपनी सोच और मानसिकता में परिवर्तन ला सकता है। उन्होंने एक उद्घोष दिया—**'संयमः खलु जीवनम्'**—संयम ही जीवन है। इस उद्घोष को अपना लें तो सारा वातावरण बदल जाएगा। अणुव्रत गीत में लिखा है—**'सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से राष्ट्र स्वयं सुधरेगा'**—हम खुद चिंतन करें, स्वयं सुधरें, जग सुधरेगा। चिंतन अगर सार्थक होगा, तो राष्ट्र का नक्शा ही बदल जाएगा। धरती पर स्वर्ग उतर आएगा।

अणुव्रत-आंदोलन नैतिकता, प्रामाणिकता, शुचिता का अमोघ संबल दे रहा है। अणुव्रत का संदेश है—**व्यक्ति धार्मिक होने के साथ-साथ नैतिक भी अवश्य बने।** भ्रष्टाचार की वंश-बेल को समूल नष्ट करने में अणुव्रत प्रभावी भूमिका निभा सकता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा है—भ्रष्टाचार तभी मिटेगा, जब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के संयम का विकास होगा। संयम के बिना भ्रष्टाचार को रोका नहीं जा सकता। आचार्यश्री महाश्रमणजी ने भी नैतिक मूल्यों की बात कही है। इसके अभाव में ही भ्रष्ट्राचार पनपता है।

अणुव्रत आंदोलन नैतिकता के विकास का अभिप्रेरक है। अणुव्रत जीवन को पवित्र और संयममय बनाने का संबल देता है। प्रेक्षाध्यान और जीवनविज्ञान के सतत अभ्यास से जीवन में सुधार आ सकता है। ❖

जो वस्तु कठिनता से मिलने योग्य हो, जिसको दबाना कठिन हो, जो कठिनाई से प्राप्त करने योग्य हो और जिससे आगे बढ़ना कठिन हो—उन सबमें मनुष्य तप से सफल हो जाता है, क्योंकि तप सबसे बलवान है।

—महाभारत

(अनुशासन पर्व—122.6-8)

रात को थपथपा कर सुलाते हुए उसे बुआ ने बताया। निंदियाई हुई-सी नन्ही ने सुना—उसके बाबू उसे ला देंगे—नई मां। चौंक-सी पड़ी एक बार····। सोचा! मां, फिर एक अस्पष्ट-सी रेखा। उसने सोचना चाहा, कुछ समझ में आया एक छाया-सी वात्सल्य लिए। नन्ही नहीं समझी। अपनी बुआ से चिपट गई थी—वह। फिर सोचा—सोचा मां! एक अव्यक्त-सा अभाव घेरने लगा उसे। बुआ के और निकट हो गई—वह। वह सोचना न भी चाहती, पर सोचा तो जाता ही है। अपनी ही तसल्ली के लिए उसने सोचा, जैसे कुछ याद हो आया। चमक-सी गई। नए माल जैसी नई मां बू? बुआ ने प्रश्न का उत्तर न देकर उसे फिर थपथपा दिया। नन्ही समझी, यही सबकुछ। जैसे उसने जान ही लिया हो, नई मां क्या? नई मां कैसी?

नन्ही की नब्ज

मोहन राकेश

मां—वह उठ बैठी। मां-मां····, बिस्तर से गिर ही चलती वह कि बुआ ने ले लिया गोद में। पता नहीं था—उसको, कि मां ने आधी रात के समय उसी के लिए बांहें बढ़ा दी थीं। उसका नाम लेना चाहा था, उसी को चूमना चाहा था। जब कंठ और कान दोनों ने साथ न दिया—मां उनसे अलग हो गई। मां उससे भी अलग हो गई, अपनी नन्ही से।

कहानी

नन्ही बेखबर बिस्तर पर सोई, एक बार कांप उठी थी। बेखबर। फिर सो गई थी, वह। यह सब हुआ घनी रात में। जहां हर रोज नन्ही सोया करती थी, मां के वक्ष के साथ। जहां वह आज भी, कल भी, परसों भी, सोई थी। अकेली, शायद ऐसा ही अभ्यास डालने के लिए। बुआ उसे सुला देती और जगा देतीं 'रवि' की किरणें। वह उठ कर कहती—मां-मां। पर, मां चली गई थी। चली गई थी, मधु-समीरण छोड़ कर, नवकलिका को लू के भरोसे····।

दिन लगे नन्ही को—यह जानते, समझते, मस्तिष्क में बिठाते कि मां चली गई। जहां कहीं भी, जिस किसी भी काम के लिए और जब कभी भी लौटने के लिए। नन्ही को लगता—सारा घर मिट्टी का, रोटी आटे की, पानी पानी-सा, फीका-फीका। सब कुछ ऐसा पहले नहीं था। पहले इन सबमें मां थी। अब भी दुलार-प्यार मिलता है, पर ऐसा—जैसा मां का नहीं होता। ऐसा-वैसा लगता···लगता ही बस! यह भी न जान पाती, क्या लगता है, क्यों लगता है, कैसे लगता है? खिलौने लेती सामने, फिर पाती धुंधली-सी मां—समझ न सकती क्या है, क्यों है, कैसे है?

औरों के लिए मां मर गई थी—धीरे-धीरे नन्ही के लिए भी मर गई—वह! जैसे वह कभी थी ही नहीं, यदि थी भी, तो कुछ करती ही नहीं थी—जैसे। सबकुछ ऐसा ही था—जैसा अब था। बुआ थी, बाबू थे, नौकर थे। मां यदि कभी थी, तो बस रोटी खिलाती थी और बस नन्ही खेलने लगती खिलौने से। कोई घर में कुछ कहता तो वह अंदर भाग कर चलती कुछ कहने। बुआ को

देखती, ठिठकती क्षण-भर, सोचती—हां, बुआ के पास ही तो आई थी—वह। वह दौड़ कर पहुंच जाती बुआ की गोद में। बुआ उसे चूम लेती। नन्ही को लगता था यही—अच्छा-सा, भला-सा। वह क्या था—धुंधला-सा, मद्धम-सा—कुछ भी नहीं।

और, मां सचमुच मर गई। नन्ही की नन्ही-सी स्मृति में रह गए खिलौने, वही उसका स्वत्व। प्यार-दुलार का आश्रय, बुआ। खेलती वह, खाती वह, गाती भी कभी—हंसती खूब। टूट जाता कोई खिलौना अपने ही हाथ से गिर कर, तो रो भी देती। बुआ मना लेती—पुचकार कर। नए के चाव में पुराने को खो देती—वह। मिल भी जाता उसे नया। पुराने से सुंदर लगता। दिन, दो दिन बीतते, पुराना खिलौना याद भी न रहता। जैसे था ही नहीं कभी। बनते और बिगड़ते खेल—जैसे होता ही ऐसा हो। और, सबमें उलझी रहती—वह। एक-सी गति से बीतता समय।

एक दिन लगा, कुछ असाधारण-सा नन्ही को। बुआ ने उसे बुलाया, चूमा, आंखों में आंसू भर कर और फिर जाने दिया। फिर एक बार उसे उठा लिया और थोड़ा-सा हंस दिया, आंखों में आंसू लेकर। जैसे हंसना ही हो आंसू, आंसू हंसना। समझ न सकी वह खुद भी। बुआ के गले में बांहें डाल-भर दीं।

रात को थपथपा कर सुलाते हुए उसे बुआ ने बताया। निंदियाई हुई-सी नन्ही ने सुना—उसके बाबू उसे ला देंगे—नई मां। चौंक-सी पड़ी एक बार····। सोचा! मां, फिर एक अस्पष्ट-सी रेखा। उसने सोचना चाहा, कुछ समझ में आया एक छाया-सी वात्सल्य लिए। नन्ही नहीं समझी। अपनी बुआ से चिपट गई थी—वह। फिर सोचा—सोचा मां! एक अव्यक्त-सा अभाव घेरने लगा उसे। बुआ के और निकट हो गई—वह। वह सोचना न भी चाहती, पर सोचा तो जाता ही है। अपनी ही तसल्ली के लिए उसने सोचा, जैसे कुछ याद हो आया। चमक-सी गई। नए माल जैछी नई मां बू? बुआ ने प्रश्न का उत्तर न देकर उसे फिर थपथपा दिया। नन्ही समझी, यही सबकुछ। जैसे उसने जान ही लिया हो, नई मां क्या? नई मां कैसी?

दूसरे दिन उठी भी वह बुआ के साथ ही। नन्ही भी नहा-धो ली। अपने सारे खिलौने कतार में रखते हुए उसे खयाल आया, 'नई मां'। फिर कुछ सोचने-सी लगी। कुछ बिखरे-से विचार बने तो बिखरे ही रहे। फिर अस्पष्ट-स्पष्ट-सी मूर्ति, उसे गोद में लिए उसे खिलाती, हंसाती, चूमती, जगाती, सुलाती, कपड़े पहनाती, प्यार देती। उसे धुंधली-सी मां याद हो आई। मां की आकृति नहीं, मां-भर। अपने खिलौने को अस्त-व्यस्त रखते हुए उसने न जाने क्या-क्या देखा। जब रोटी के लिए बुआ ने बुलाया तो नन्ही को लगा जैसे मां ने····अंदर झांकी, बुआ को देखा। याद आया कोई चीज, जो वहां होनी चाहिए, है नहीं—वहां। क्या नहीं है? समझ में नहीं आया। रोटी खाई, जैसे खा ही ली। मां उसे याद आ रही थी। वह सोचती, बुआ ही मां थी, या—या वह तसवीर-सी। पर, उसने अंदर देखा, बुआ में मां।

जब बुआ ने नन्ही के बाल सहेज दिए तो उसे सचमुच की मां याद आ गई, वैसे ही जैसी वह थी। अनायास ही पूछा उसने—वो मां आएगी बू?

बुआ हैरान-सी उसे देखने लगी और देखती रही, क्षण-भर—कौन मां?

उसने पूछा। नन्ही क्या बताती—वो लोती वाली मां बू। उसने कुछ सोच कर कहा।

बुआ ने उसे चूम लिया, क्या सोचती है—बच्ची! नई मां आएगी तेरी। बुआ ने कहा—जैसे अपने ही दिल पर धक्का-सा लगा हो। नन्ही चुप रह गई। सोचा उसने—नया मोर पुराने मोर जैसा होता है। रंग उसका चमकता है—इतना ही अंतर है। मोर सब एक ही तो हैं। मां—मां सब एक ही तो। एक को ही तो कहते हैं—मां! उसने सोचा—जो मां है, मां तो होगी। वही, वैसी—नए कपड़े पहने हुए। शायद खुशी-सी झलकने लगी चेहरे पर—जैसे अब पुराना सपना फिर दिखाई देगा। सुंदर-सा, अद्‌भुत-सा।

नन्ही के दिन काटते जैसे कटते ही न। रोज सोचती, रोज पूछती—आ जाए मां---मां जैसी मां।

और एक दिन खूब चहल-पहल, खुशियां, बाजे—और उनके साथ आ ही गई नई मां। नए ढंग के

कपड़े पहने देखा नन्ही ने अपने बाबू को। सोचा बाबू भी नए हो गए शायद—और ऐसी ही तो नई मां—मां, नए कपड़ों में। वह उतावली हो उठी—मां के पास दाऊंगी।

घर में आ गई थी नई मां। अपने विचारों और सपनों में खोई-सी युवती। देखा था, जिसने बचपन। यौवन से तो परिचय ही उसका नया था। कुछ दिन पहले वह खेला करती थी। पर, आज? वह सोचती ही जा रही थी। भय, आशंका, दुख, शोक, हर्ष, उल्लास—क्या था, हृदय में? सब ही, एक भी नहीं। भावना व्यक्त भी अपने आप को छुपाए रहती है—कभी-कभी। भावना के क्षण कितने पृथक-पृथक होते हुए भी मंजे, सधे-से रहते हैं। हम उनका विभाजन नहीं कर पाते।

और, वह सोचती जाती। जानना चाहती, क्या परिवर्तन आ गया—उस में। बाहर से देखा—वस्त्र, आभूषण। जैसे वह, वह नहीं थी। कोई खिलौना थी, जिसे खूब सजा-भर दिया गया था—खरीदार के हवाले करने को। अंदर भी देखा—उसने। वहां क्या? ऐसा ही लगता था—जैसे पहले, पर ऐसा तो नहीं लगता था। चाह-उमंग—यह पहले इतने कहां थे। फिर भी, दिल अभी चाहता था, उसकी मां उसे बुलाए—वह झुंझला कर उत्तर दे—पढ़ रही हूं मैं, अभी नहीं खाना खाना मुझे। और यहां····

—मां, उसने शायद सुना भी नहीं। नहा-धोकर कपड़े पहन कर हाथ में नया मोर लिए नन्ही आ गई थी, नई मां के पास। मां—और, वह अपने सपनों से चौंक उठी, जाग पड़ी जैसे। देखा! वह घर भी नहीं, मां भी नहीं—एक नन्ही-सी बच्ची—उसी को कहती मां। कल तक 'बेटी' सुनने का अभ्यास था—उसे। इतना परिचित था यह शब्द कि, उसे यह इतना बदला हुआ संबोधन अच्छा नहीं लगा। कितना अंतर था, कल तक बेटी और आज मां। धीरे से नन्ही को पीछे हटा दिया—उसने।

नन्ही कुछ सहमी, कुछ झिझकी। पर, मां से डरना क्या? वह फिर उसके हाथ को पकड़ते हुए बोली—मां तुम तो····नई मां ने उसकी तरफ देखा नहीं, तो लगा यह मां नहीं है। यह मां-सी तो लगती ही न थी। वह चुप रह गई—मां ऐसी तो नहीं होती।

युवती का दिल घबरा-सा गया। दिल कुछ भर-भर-सा आ रहा था। अपना हाथ खींच लिया उसने झटक कर।

नन्ही कोशिश कर रही थी, यह समझने की कि यही मां है। तभी उसका हाथ झटक दिया गया। वह रुआंसी-सी दो कदम हटी पीछे और न जाने कैसे गिर गई। क्या मोर हाथ से गिर कर टूट गया? सुबक-सुबक कर रोने लगी नन्ही।

भोजन-गृह से दौड़ पड़ी बुआ। नन्ही को उठा लिया। पूछा—क्या हुआ? युवती ने तिरछी नजर से देखा। नन्ही ने बुआ से चिपट कर जोर से रोते हुए इतना-भर कहा—मां। और, और भी जोर से रोने लगी।

बुआ उसे ले आई। नरम-से बिस्तर पर उसे लिटाते हुए उसकी अपनी आंखों में आंसू छलछला आए। सिर पर हाथ फेरते हुए कहा बुआ ने—रो मत, तुझे नया मोर ला देंगे, पर नन्ही ने सुना ही नहीं। वह सुबकती रही। बुआ रोटी बनाने चली गई। घर में नई दुलहिन आई थी। किसी तरह की कमी न रहनी चाहिए। दो-एक घंटे में जब खाली हुई तो नन्ही को खाने के लिए बुलाने चली। बुआ पास गई। नन्ही सो रही थी। माथे पर हाथ रखा, कांप गई बुआ। आग की तरह जल रहा था—माथा। नन्ही को ज्वर हो आया था।

नई दुलहिन के लिए खाना जा रहा था। बुआ ने अपने हाथ से सजा कर रखा था। मेहरी ने बुआ को बुलाया। बुआ चुपचाप वहीं बैठी रही। दुलहिन का खाना भेज दिया गया। बुआ उठी। बाहर निकली। मेहरी ने आवाज दी—बहू ऐसे क्या खाएगी? तुम ही न जा कर खिलाओ बीबी!

बुआ ने जैसे सुना ही नहीं। नौकर को आवाज दी उसने—रन्नू!

—रन्नू, जा वैद्यजी को बुला ला····नन्ही को बुखार हो आया है।

—बहू पहले ही दिन भूखी रहेगी बीबी—मेहरी ने कहा।

बुआ ने कुछ नहीं सोचा—तुम्हीं जा कर खिला दो न। मुझे कौर तोड़ कर तो नहीं डालने मुंह में उसके। झुंझला

कर कहा बुआ ने और जा बैठी नन्ही के पास। नन्ही का बदन आग की तरह जल रहा था।

मेहरी के हजार कहने पर भी दुलहिन ने खाना नहीं खाया। वह सोचती थी, कल तक की बात—जब तक वह खाने-पीने में स्वतंत्र थी। मां कुछ भी खिलाती, कितना अच्छा लगता था—वह। आज कितनी ही चीजें थीं। आग्रह कर रही थी, एक मेहरी—कितनी नीरसता। खाना खाने के ही लिए नहीं खाया जाता। जब मेहरी उठ कर बाहर गई तो दुलहिन ने रूमाल से आंखें पोंछ लीं। धीरे से अपना सिर उसने टिका दिया और न जाने कितने-कितने विचार।

वैद्यजी आए—नन्ही का बुखार कम नहीं हुआ। डॉक्टर बुलाए गए। डॉक्टर ने एक हलका-सा इंजेक्शन दिया। एक बार नन्ही ने आंखें खोलीं। बुआ ने उमड़ते प्यार से बाल सहेजते हुए धीरे से कहा—क्यों मेरी मुन्नी, तेरे लिए, देख कितने नए खिलौने मंगवाए हैं।—बुआ को एक बार देख-भर लिया नन्हीं ने। आई थी थोड़ी-सी स्मिति रेखा पर—फिर घबरा उठी। फिर क्षीण-सी आवाज में वह चिल्लाई—नए नईं। नन्ही फिर बेहोश हो गई।

दो-तीन घंटे में उसने फिर आंख खोली। डॉक्टर इंजेक्शन तैयार कर रहे थे। नन्ही ने बुआ को ताका, कहा—मां।—बुआ की आंखों में आंसू छलछला आए।

डॉक्टर ने धीरे से बुआ से कहा—यह बिस्तर बदल दीजिए, नए कपड़े मंगवा कर बिछा दीजिए।

दो-एक क्षण की निस्तब्धता के बाद नन्हीं फिर चिल्ला उठी—नए-नईं। और, एक बार फिर उसने आंख मूंद ली।

× × ×

मेहरी दौड़ती हुई आई, हांफती-सी। बुआ से कहा उसने—जल्दी चलो बीबी, जल्दी। बहू को बुखार हो आया है। शरीर तप रहा है।

× × ×

डॉक्टर ने नन्हीं की बांह थाम ली तो नब्ज नहीं मिल रही थी। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर **'जैन भारती'** उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, **'जैन भारती'** अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती
एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए

जैन भारती
पढ़ें—सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन
महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401

फेडेरिको मायोर की कविताएं

•

इतना सबकुछ
देख लेने पर भी
और जिससे मैं जुड़ा हूं
फिर भी
मैंने आवाज नहीं उठाई।

कहां है
स्वतंत्रता?

कहां हैं पैगंबर?
छुपे, चुप!

हम किनमें रखें आस्था?

मेरी आंखें
और मेरे कान
भरे पड़े हैं
कृत्यों से
घटनाओं से,
और हैं थके-थके से।

कौन-सा पंथ
मैं अपनाऊं
सदा-सदा के लिए?

•

समय बीत जाता है
और रह जाते हैं
हमारे हाथ खाली।

क्षण बीतते जाते हैं
और मिलता नहीं
कोई फल
हमारी इंतजार का।

•

पूजा की पद्धतियां
करती हैं हमें दूर
जोड़ती है जब हमें
अंतरात्मा।

अंतरात्मा
बदलती नहीं
धार्मिक संस्कार में,
जो मूल है
उसे वह जानती है
महसूस करती है
वस्तुओं का मूल-सार।

•

हर दिन
हमारा शरीर यह दिलाता है याद
कि अंततः हम सभी हैं समान
मां धरित्रि के पास नहीं हैं कोई श्रेणियां
सबकुछ पहुंचता है—उसके पास
अस्थियों के रूप में
केवल मानव की आत्मा ही
उड़ती है द्रव्य पदार्थ पर
और अपने ही निर्मित
अनंत अंतरिक्ष में
करती है निवास।

इस चमत्कार को संभव करना ही
हर पुरुष का, हर महिला का
है परम कर्तव्य
परम उदात्त।

रूपांतरण : **योगेश अटल**

❖

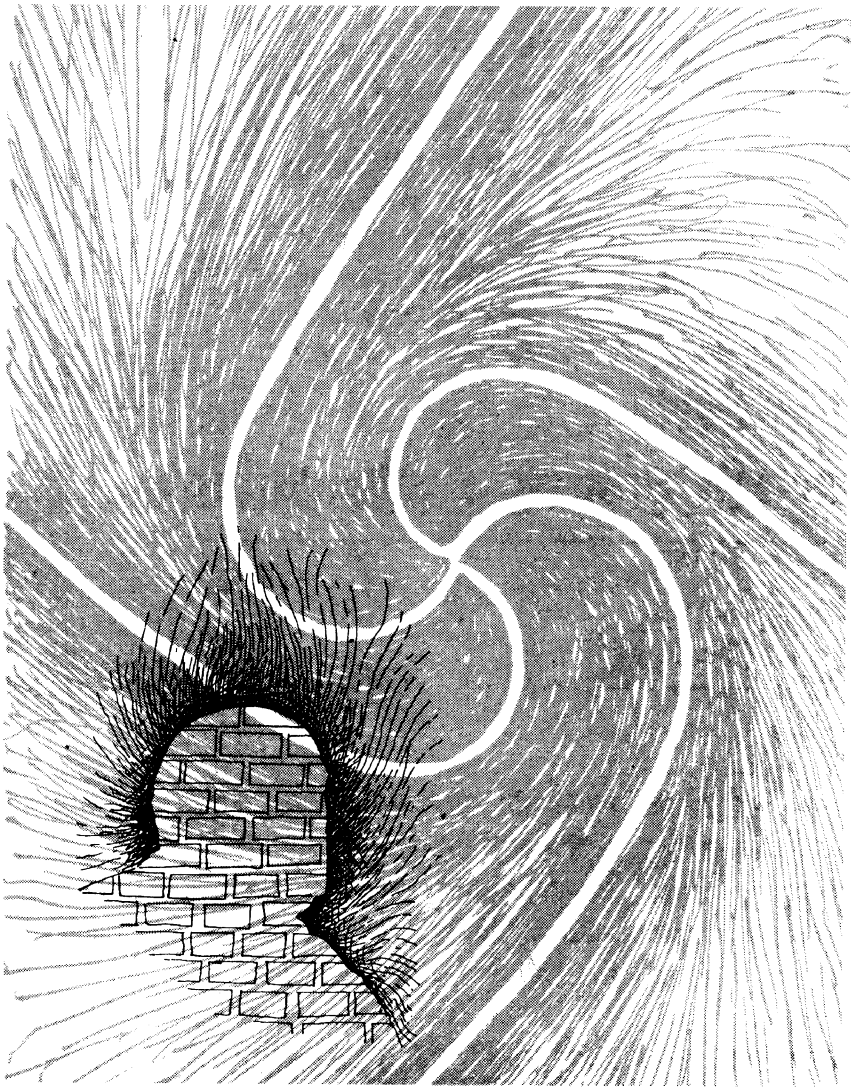

शीलन

भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य की अपार महिमा गाई गई है। ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है? ब्रह्म-प्राप्ति के लिए जिस प्रकार का आचरण करना चाहिए, वह आचरण ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ क्या है? ब्रह्म का अर्थ है—हमारा ध्येय। प्राप्त करने के योग्य जो कुछ सबसे ऊंची बात हमें मालूम हो—वही ब्रह्मचर्य है। जिसके लिए हम जीना या मरना चाहते हैं—वह हमारा ब्रह्म है।

—साने गुरुजी

(पांडुरंग सदाशिव साने)

अनेकांतवाद विज्ञान की तरह कल्पित मान्यताओं को कभी स्थान नहीं देता है, इसलिए अनेकांतवाद सत्यवाद है और महाविज्ञान भी है। यही कारण है कि अंतरराष्ट्रीय ख्याति के अनेक धुरंधर विद्वान अनेकांतवाद की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि— 'अनेकांतवाद' संसार की संगठन शक्ति है। अनेकांतदर्शन सब मतभेदों और भिन्न-भिन्न दृष्टियों का समन्वय करने की बेजोड़ कला जानता है। इसलिए इसे 'कोंप्रोमाइजिंग सिस्टम ऑफ फिलासफि' कहते हैं। अनेक विचार-वैमनस्यों का सुंदर ढंग से समाधान करने के कारण इसका 'अनेकांत' नाम सार्थक है।

अनेकांतवाद : सत्यवाद भी; महाविज्ञान भी

समणी विपुलप्रज्ञा

पदार्थ विज्ञान और आत्म विज्ञान ऐसा गहन विषय है कि हम कोरी कल्पना और तर्क से सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकते। सत्य का साक्षात्कार करने का सर्वोत्तम उपाय है—अनेकांत। यदि अनेकांत दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया जाए तो सत्य समझने में आसानी हो सकती है।

भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन जगत में प्राय: एकांत दृष्टि के ही दर्शन होते हैं। इससे किसी भी सिद्धांत की सत्यता पूर्णत: सिद्ध नहीं हो पाती। जैनदर्शन में अनेकांत दृष्टि के प्रयोग से सभी समस्याओं का समाधान किया जाता है। इसलिए अनेकांतवाद को निस्संदेह सत्यवाद एवं साम्यवाद कहा जा सकता है। अनेकांतवाद जैनदर्शन का प्राण है। इसके पास संसार की समस्त समस्याओं के समाधान का अपूर्व खजाना है।

अनेकांतवाद महाविज्ञान है

विश्व में समस्त पदार्थों का सापेक्ष प्रतिपादन है। अनेकांतवाद को इसीलिए सापेक्षवाद भी कहा जाता है। आधुनिक विज्ञान के पुरोधा आइंस्टाइन की 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी'—सापेक्षतावाद की मान्यता कई अंशों में अनेकांतवाद का ही अनुसरण करती है। इससे सिद्ध होता है कि अनेकांतवाद महाविज्ञान भी है। अनेकांतवाद स्वभाव से पदार्थ विज्ञान का 'सूक्ष्म गणितीय' संचालन करता है। आधुनिक विज्ञानवेत्ता एक आवाज से स्वीकार करते हैं कि 'यूनिवर्स इज सेल्फ क्रिएटेड, सेल्फ रूल्ड एंड सेल्फ सिस्टेमैटाइज्ड बाइ इट्स अनचेंजेबल एंड पोटेंशियल लॉज्'—अर्थात्; विश्व अपना सर्जन, संचालन और शासन स्वयं ही अपने अटल नियमों के अनुसार कर रहा है। सृष्टि का सर्जनहार, संरक्षक और संहारक मानव कल्पनाएं हैं। अनेकांतवाद विज्ञान की तरह कल्पित मान्यताओं को कभी स्थान नहीं देता है, इसलिए अनेकांतवाद सत्यवाद है और महाविज्ञान भी है। यही कारण है कि अंतरराष्ट्रीय ख्याति के अनेक धुरंधर विद्वान अनेकांतवाद की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—'अनेकांतवाद' संसार की संगठन शक्ति है। अनेकांतदर्शन सब मतभेदों और भिन्न-भिन्न दृष्टियों का समन्वय करने की बेजोड़ कला जानता है। इसलिए इसे 'कोंप्रोमाइजिंग सिस्टम ऑफ फिलासफि' कहते हैं।

अनेक विचार-वैमनस्यों का सुंदर ढंग से समाधान करने के कारण इसका 'अनेकांत' नाम सार्थक है।

अनेकांत की परिभाषा

जेण विना लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरूणो णमो अणेगंतवायस्य।।

आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि—'जिसके बिना लोक व्यवहार संभव नहीं है, उस अनेकांत गुरु को नमस्कार है।' अनेकांत शब्द का विग्रह कर दिया जाए तो उसमें 'अनेक' और 'अंत'—ऐसे दो शब्द निहित हैं। इसकी शाब्दिक परिभाषा है—जिस पदार्थ में अनेक अंत अर्थात् अनेक धर्म रहते हैं—वह अनेकांत है।

विरोधी गुणधर्मों का महत्त्व

जैनाचार्यों एवं जैन दार्शनिकों ने अनेकांत को स्पष्ट करते हुए कहा है कि—कोई भी वस्तु अनेक धर्मात्मक होने के कारण अनेकांतात्मक नहीं कही जा सकती। अपितु, एक ही वस्तु सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष आदि अनेक परस्पर विरोधी गुणधर्मों को एक साथ अपने में समाए हुए हैं। इस कारण प्रत्येक पदार्थ या वस्तु अनेकांतात्मक कहलाती है। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए जैन विद्वानों ने कई उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। जैसे—एक ही मनुष्य दयालु, उदार, मधुरभाषी, परोपकारी, क्षमावान, चारित्रशील, धैर्यवान, धर्मपरायण, दानशील है। उसमें बहुत से गुण हैं। उस व्यक्ति के अलग-अलग गुणों का अलग-अलग दर्शन होने के कारण हम उसके संबंध में अपनी राय बना सकते हैं। पर, उस राय को अनेकांतात्मक नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक गुण के संबंध में चिंतन करते समय दृष्टि और बुद्धि, दोनों उस गुण तक ही सीमित रहने के कारण वह निर्णय एकांतिक ही रहता है। एकांतदृष्टि से किसी भी व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व की परख नहीं की जा सकती, परंतु अनेकांत दृष्टि द्वारा हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति के जीवन में इन सभी गुणों के विपरीत कुछ अवगुण भी मौजूद हैं। जाहिर है, प्रत्येक इंसान में गुण और अवगुण परस्पर विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं। जिसे हम अनेकांतवाद से अच्छी तरह समझ सकते हैं।

अनेकांतवाद की आवश्यकता

उपरोक्त बिंदु से यह स्पष्ट है कि यदि एक वस्तु में परस्पर विरोधी बातें मौजूद हैं तथा यह तथ्य साबित करना हो, उसे खोज निकालना हो या समझना हो तो—उस समय हमें अनेकांतवाद की आवश्यकता होती है। विरोधी गुणधर्म-वाणी-वस्तु का निर्णय करने में अनेकांतवाद का आश्रय न लिया जाए तो उससे संबंधित निर्णय कदापि सच्चा नहीं हो सकता है। दूसरे शब्दों में वस्तु अनेक गुणधर्मात्मक नहीं, बल्कि परस्पर विरोधी अनेक गुणधर्मों से युक्त है। ये जो विरोधी गुणधर्म हैं, वे एकांत दृष्टि द्वारा नजर नहीं आते। इसलिए उसे अनेकांत दृष्टि से अच्छी तरह से देख सकते हैं, समझ सकते हैं। यही कारण है कि अनेकांतवाद को 'तत्त्व शिरोमणि' की उपाधि भी दी गई है।

वस्तु अनंतधर्मात्मक है

मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह छोटा-सा रजकण ही हो, चाहे विराट हिमालय—वह अनंतधर्मों का समूह है। हम एक उदाहरण से समझने का प्रयत्न करें—एक आम्रफल है। इसमें रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, आकार भी है और भूख को शांत करने की क्षमता भी है। इस आम्रफल को केवल एक पहलू से, एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह करना व्यर्थ है। वैसे ही प्रत्येक पदार्थ को पृथक-पृथक पहलुओं से देखने का और कहने का लक्ष्य होना चाहिए। इसी का नाम अनेकांतवाद है, जो हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है और हमारी विचारधारा को पूर्णता की ओर ले जाता है। अनेकांतवाद हमें ऐसी सुनहरी और अमूल्य शिक्षा देता है कि किसी भी विषय का निर्णय करने से पहले, हर पहलू से उसकी जांच कर लेनी चाहिए।

अनेकांतवाद में विरोधाभास नहीं है

अनेकांतवाद के स्वरूप को जिन्होंने पहली बार समझा, सुना—तो किसी को तो अच्छी तरह से समझ में आ गया, लेकिन कई दार्शनिक, विचारक ऐसे भी हैं—जिनकी स्वाभाविक जिज्ञासाएं रही हैं। कई जैनेतर मतावलंबियों का भी कहना है कि अनेकांतवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा विरोध तो यही है कि जो वस्तु 'सत्' है, वही वस्तु 'असत्' कैसे हो सकती है? जो 'नित्य' है, वही 'अनित्य' कैसे हो सकती है? एक ही चीज में दो परस्पर विरोधी धर्मों का होना, उन्हें आकाश कुसुमवत लगता

है। जैन दार्शनिकों ने तब कहा है कि अनेक भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिंदुओं तथा विचारधाराओं का एक साथ विचार करने के बाद ही समाधान की भाषा में यह बात कही गई है कि—एक ही वस्तु में 'सत्-असत्' जैसे विरोधी धर्म रह सकते हैं। व्यवहार का एक छोटा-सा उदाहरण है—एक दवा अमुक रोगी के लिए उपयोगी है, लेकिन वही दवा दूसरे रोगी के लिए अनुपयोगी है—यह स्वीकृत तथ्य है। इसलिए, यह कह सकते हैं कि एक ही दवा उपयोगी भी है और अनुपयोगी भी।

जिन्हें विरोधाभास प्रतीत होता है, उनने एक चीज को एक ही पहलू से, एक ही स्वरूप में देखा है। दूसरे स्वरूप व दूसरे पहलुओं को देखने की कोशिश नहीं की। जबकि जैन तत्त्ववेत्ताओं ने वस्तु के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि के सामने रख कर वस्तु को विभिन्न पहलुओं से समझने का प्रयत्न किया है। एक और उदाहरण प्रस्तुत है—दो दोस्त आपस में मिले। एक ने कहा—जैसे विष और अमृत का एक साथ रहना असंभव है, वैसे ही एक वस्तु में दो विरोधी तत्त्वों का रहना असंभव है। तब अनेकांत प्रेमी दूसरे दोस्त ने समाधान की भाषा में कहा—देव और दानवों ने मिल कर जब समुद्र मंथन किया, तब उससे विष और अमृत, दोनों निकले थे—यह बात सभी जानते हैं और मानते हैं। दोस्त ने 'हां' किया, जाहिर है कि दो विरोधी तत्त्व एक ही वस्तु में वैसे ही रहते हैं, जैसे समुद्र में विष और अमृत। यह बात इस तरह से भी समझी जा सकती है कि आप विद्वान भी हैं और मूर्ख भी। कैसे? संस्कृत के पंडित का संस्कृत का अध्ययन इतना गहरा है कि वह किसी से भी टक्कर ले सकता है, लेकिन अंग्रेजी भाषा का, रशियन भाषा का उसे बिलकुल ज्ञान नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो वह मूर्ख सिद्ध होगा। इस दृष्टि से यह बात सही है कि एक व्यक्ति अंग्रेजी व रशियन भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण मूर्ख है, पर संस्कृत जानने की दृष्टि से विद्वान है।

अनेकांतवाद से समता का जागरण

जो इनसान अनेकांतवाद को समझ लेता है, अनेकांत दृष्टि प्राप्त कर लेता है—तो उसके जीवन में स्वतः ही समता का जागरण होने लगता है। वह न तो कभी समस्या पैदा करता है, न ही किसी में उलझता है। अपितु, हर पल जीवन का आनंद लेता है। अनेकांत दृष्टि प्राप्त कर इंसान जीवन जीने की कला सीख लेता है। तभी अनेकांतवाद आज भी प्रासंगिक है।

अनेकांत : भगवान महावीर की अनुपम देन

भगवान महावीर के प्रमुख तीन सिद्धांत—अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत दर्शन ने न केवल जैन दर्शन में उच्च स्थान पाया है, अपितु भारतीय व पाश्चात्य दर्शन जगत में भी अपनी एक अलग पहचान बनाई है। भगवान महावीर ने अनेकांत सिद्धांत का पहले स्वयं के जीवन में प्रयोग किया, फिर जनता के सामने प्रकट किया। आज के इस विज्ञानवादी युग में हम यह बात बड़ी आसानी से समझ सकते हैं कि अनेक विरोधी तत्त्व एक साथ, एक समय एक ही वस्तु में रह सकते हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आज जब चारों ओर धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और राष्ट्रीय वैर-विरोध का बोलबाला है, तो वह अनेकांतवाद के द्वारा दूर हो सकता है। जैन तत्व-ज्ञानियों का मानना है कि 'अनेकांत दर्शन' में सभी दर्शनों के भिन्न-भिन्न मत व दृष्टि-बिंदु इस तरह से सम्मिलित हो गए हैं, जैसे कि अनेक सरिताएं सागर में जाकर मिल जाती हैं। ❖

ज्ञानी खुद के लिए जमा नहीं करता।
जितना दूसरों के लिए उपयोग करता है
उतना ही अधिक स्वयं प्राप्त होता है—उसको।
जितना ज्यादा देता है
उतना ही पाता भी है।

—लाओत्जे

आत्मा के रोग बहुत छद्म-वेश धारण करके आते हैं और जीवात्मा इनके प्रवाह में बह जाती है। ये रोग उसे वास्तविक स्थिति का भान नहीं होने देते और जब आत्मा चारों तरफ से आतंकित और मर्माहत हो उठती है, तभी अंतर-पीड़ाओं की लहरें उभरती हैं, तभी अपनी दयनीय दशा का ज्ञान होता है। तब वह इन रोगों से जूझने को उद्यत एवं तत्पर होती है और कुछ उपाय खोजती है। इन रोगों को मिटाने के लिए कृत-संकल्प भी बनती है और अपनी समग्र शक्ति बटोरकर इन सब शत्रुओं को पछाड़ने में जुट जाती है। और, एक समय आता है कि संयम, तप, स्वाध्याय और शुक्लध्यान के द्वारा इन सब रोगों से छुटकारा पा लेती है। ऐसा समय भी आता है जब आत्मा बाह्य व आंतरिक बंधनों को तोड़कर जन्म-मरण से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाती है। यही अवस्था पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेना है। यही अवस्था अक्षय और निरवद्य है।

छद्मवेशी होते हैं आत्मा के रोग

मुनि मोहनलाल 'शार्दुल'

इस बात में बहुत विस्मय हो सकता है कि आत्मा भी रोगग्रस्त होती है। आत्मा का रोगग्रस्त होना एक विचित्र बात कही जा सकती है। शरीर के रोगों की बात और उसकी पीड़ा तो भोगी भी जाती है। वैद्यों, डॉक्टरों के द्वार भी खटखटाए जाते हैं। 'शरीर व्याधि मंदिरं—उक्ति शत-प्रतिशत सत्य प्रतीत होती है, पर आत्मा के रोग की बात तो नई है। आत्मा भी यदि रुग्ण होगी, तो फिर निरोग किसे माना जाएगा?'

क्या आत्मा के अनारोग्य रहने में कोई संशय है? माना ही गया है कि आत्मा भी विकार-ग्रस्त बनती है। बनती क्या है, अनादिकाल से रुग्ण होती आई है। पूर्ण स्वस्थ वह कभी नहीं रही।

फिर भी आत्मा और शरीर में एक मौलिक भेद-रेखा अवश्य है। बीमार शरीर स्वस्थ होने पर वह पुनः रुग्ण हो सकता है, किंतु आत्मा के पूर्ण स्वस्थ—अर्थात् कर्ममल से सर्वथा रहित होने पर वह फिर कभी रुग्ण नहीं होती। रुग्णता के उसके समस्त कारण नष्ट हो जाते हैं।

कर्म पुद्गलों के आवरण उसके भौतिक-आध्यात्मिक स्वरूप को छिपाए रखते हैं। जैसे तेजस्वी सूर्य को छितरे बादल अथवा घनघोर घटा एक बार अपने आंचल में छुपा लेती है, वैसे ही ज्योतिर्मय आत्मा को भी कर्मावरण आवृत कर लेते हैं, पर जैसे तीव्र पवन के योग से बादलों का समूह बिखर जाता है और सूर्य अपनी समस्त किरणों से चमक उठता है, उसी तरह संयम, तप, स्वाध्याय और ध्यान-साधना से समस्त कर्मावरण उड़ जाते हैं और आत्मा निरावरण-चिन्मय स्वरूप बन जाती है। फिर अनंत काल तक यह उसी स्वभाव में प्रतिष्ठित रहती है। उसके कोई रोग नहीं रहता, किसी प्रकार का बंधन नहीं रहता। सिद्ध-बुद्ध मुक्त बन जाती है। निष्कर्म

आत्मा अपने मूल स्वभाव में अवस्थित हो जाती है। उसका वास्तविक स्वरूप उभर आता है।

यह स्थिति निष्कर्म आत्मा की है, किंतु सकर्म आत्मा की दशा बिलकुल भिन्न होती है। वह शरीर की तरह ही पीड़ित व व्याकुल रहती है। शरीर के समान ही बार-बार रोगग्रस्त बन सकती है।

शरीर में दोनों प्रकार के रोग होते हैं। प्रत्यक्ष दिखने वाले और अप्रत्यक्ष एहसास कराने वाले। फोड़ा-फुंसी, घाव, मोतियाबिंद, मस्सा, जलोदर आदि प्रत्यक्ष दिखने वाली बीमारियां हैं, किंतु शरीर में कुछ ऐसी बीमारियां भी होती हैं जो चर्म-चक्षुओं के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकतीं। दांत का दर्द, पेट की पीड़ा, आंख का दर्द, कान की पीड़ा, दाह-ज्वर और हार्ट-अटैक—आदि ऐसे ही रोग हैं।

कह सकते हैं कि स्वभाव में अवस्थिति आत्मा स्वस्थ है और विभाव रुग्णता है। इनसे भी शरीर को उतनी ही व्याकुलता और व्यथा होती है, जितनी शारीरिक रोगों से होती है।

आत्मा के रोग

शरीर के समान ही आत्मा भी रोगों के घेरे में रहती है। आत्मा पर भी नाना प्रकार के रोग आक्रमण करते रहते हैं। मनोविकार, वासना, मूर्च्छा, ममता, उत्तेजना, आवेश, आवेग, अहंभाव, मोहराग, तृष्णा, घृणा-द्वेष, छल-प्रपंच, विषयासक्ति, सम्मान, लालसा, अज्ञान मिथ्यात्व, प्रमाद, आशा-निराशा आदि अनेक प्रकार हैं जो आत्मा को प्रतिक्षण व्यग्र-व्याकुल बनाए रखते हैं। इनके होते किसी भी क्षण अमन-चैन नहीं मिलता। हर क्षण अस्वस्थ एवं अशांत रहता है। जैनदर्शन में इन सब रोगों को भाव-कर्म के नाम से पुकारा जाता है। इन्हीं भाव कर्मों के योग से द्रव्य कर्म पुद्गलों का बंधन होता है, जो आत्मा के विभिन्न पर्यायों का प्रतीक बनता है। ये आत्मा के रोग हैं। इन रोगों को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। इनका अस्तित्व शरीर के माध्यम से ही उजागर होता है। आत्मा का समूचा परिणमन बहुत सूक्ष्मता के घेरे में रहता है। मनुष्य की भौतिक आंखें वहां कुछ भी नहीं देख पाती हैं। शरीर के स्थूल माध्यम से ही इसकी अवगति होती है।

सूक्ष्म की अभिव्यक्ति स्थूल के माध्यम से होती है और स्थूल के द्वारा ही उसका सुबूत मिलता है। मौलिक तत्त्व भी सूक्ष्म ही है। सूक्ष्म की संघटना ही स्थूल पदार्थों का निर्माण करती है। सूक्ष्म बहुत शक्तिशाली होता है और वह बड़े अनूठे कार्य सम्पन्न कर सकता है। पर, उसे स्थूल का सहारा लेना ही पड़ता है। स्थूल में प्रतिबिंबित होकर ही वह अपने अस्तित्व व सामर्थ्य का परिचय होते हैं।

हम जानते हैं कि विद्युत 'करंट' का एहसास उसके तारों के माध्यम से होने वाले कार्यों के द्वारा होता है। द्रुत गति से चलते हुए पंखे से लेकर चमचमाहट करते हुए बल्ब और चलती हुई मशीन के पुर्जों से उसके अस्तित्व का प्रमाण स्वयं ही मिल जाता है। पर, बिना किसी माध्यम के वह इंद्रियों का विषय नहीं बनता। न आंखों से देखा जा सकता है और न हाथों से छुआ जा सकता है। स्थूल वस्तुओं पर हुए परिणाम ही उसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

इसी तरह आत्मा के अस्तित्व एवं व्यक्तित्व का परिचय भी शारीरिक स्थिति से तथा शरीर के क्रिया-कलापों के द्वारा ही मिलता है। निर्जीव शरीर की दशा भिन्न होती है और आत्मवान शरीर की भिन्न। आत्मा से शून्य शरीर जड़ बन जाता है। उसमें कोई हलन-चलन, श्वासोच्छ्वास नहीं रहता। उसकी हर हरकत बंद हो जाती है।

सचेतन शरीर प्रतिक्षण स्पंदनशील रहता है। मशीन की भांति अनेक सूक्ष्म एवं स्थूल पूर्जे उसमें संचालित रहते हैं। कितनी ही रासायनिक क्रियाएं होती रहती हैं। कितनी ही सूक्ष्म कोशिकाएं रक्त-संचार का मुख्य कार्य करती हैं। किंतु, चेतना का शरीर से बहिष्कृत होने पर सब कुछ ठप्प हो जाता है। मशीन में तो फिर भी वापस करंट दौड़ाया जा सकता है, पर निश्चेतन देह फिर से चैतन्य नहीं हो सकती। निष्प्राण शरीर में प्राण के प्रवेश की कोई विधि अथवा प्रक्रिया अब तक के विकसित वैज्ञानिक मस्तिष्क में नहीं आ पाई है।

जड़ पदार्थों पर मनुष्य का अधिकार है। वह अनेक तरह से उसमें फेर-बदल कर सकता है। सर्वथा निष्क्रिय एवं निष्फल को भी अनेक साधनों के द्वारा परिवर्तित करके सक्रिय एवं सार्थक बना सकते हैं, पर चेतना के संदर्भ में मनुष्य की मेधा इतनी शक्तिशाली नहीं है। एक प्रकार

से वह उस पर कोई अधिकार नहीं रखता। वह जाती हुई चेतना को रोक नहीं सकता है और न ही गई हुई चेतना को शरीर में वापस लौटा सकता है। चेतना कब, क्या कर गुजरेगी—इसका कुछ भी पता नहीं लग सकता।

आत्मा के रोग बहुत छद्म-वेश धारण करके आते हैं और जीवात्मा इनके प्रवाह में बह जाती है। ये रोग उसे वास्तविक स्थिति का भान नहीं होने देते और जब आत्मा चारों तरफ से आतंकित और मर्माहत हो उठती है, तभी अंतर-पीड़ाओं की लहरें उभरती हैं, तभी अपनी दयनीय दशा का ज्ञान होता है। तब वह इन रोगों से जूझने को उद्यत एवं तत्पर होती है और कुछ उपाय खोजती है। इन रोगों को मिटाने के लिए कृत-संकल्प भी बनती है और अपनी समग्र शक्ति बटोरकर इन सब शत्रुओं को पछाड़ने में जुट जाती है। और, एक समय आता है कि संयम, तप, स्वाध्याय और शुक्लध्यान के द्वारा इन सब रोगों से छुटकारा पा लेती है। ऐसा समय भी आता है जब आत्मा बाह्य व आंतरिक बंधनों को तोड़कर जन्म-मरण से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाती है। यही अवस्था पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेना है। यही अवस्था अक्षय और निरवद्य है। ❖

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

(ISO 9001 : 2008 प्रमाणित)

3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001

दूरभाष : (033) 22357956, 22343598, फैक्स : (033) 22343666

संबोधन अलंकरण समारोह

श्रद्धेय आचार्यप्रवर जिन श्रावक-श्राविकाओं को उनकी जीवनगत श्रेष्ठताओं के आधार पर विशेष संबोधनों से संबोधित करते हैं, उनको जैन श्वेतांबर तेरापंथी महासभा प्रतिवर्ष मर्यादा महोत्सव के अवसर पर पूज्यप्रवरों की पावन सन्निधि में आयोजित विशेष कार्यक्रम में अलंकरण प्रदान कर सम्मानित करती है। गत कई वर्षों से उक्त अवसर पर महासभा द्वारा अलंकरण प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की सचित्र परिचय पुस्तिका भी प्रकाशित की जाती है।

संबोधन अलंकरण समारोह आगामी टापरा मर्यादा महोत्सव के अवसर पर माघ शुक्ला चतुर्थी, दिनांक 14 फरवरी, 2013 को दोपहर 2.00 बजे से पूज्यवरों के पावन सान्निध्य में आयोजित है। इस अवसर पर एक मिलन गोष्ठी का आयोजन दिनांक 13 फरवरी, 2013 को सायंकाल किया जाएगा।

संबोधन प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं अथवा उनके परिवारजनों से सादर निवेदन है कि अब तक जिन्होंने परिचय एवं 'फोटो' महासभा कार्यालय में प्रेषित नहीं किया है, वे संबोधन प्राप्तकर्ता का परिचय दो 'फोटो' सहित यथाशीघ्र महासभा प्रधान कार्यालय कोलकाता के निम्नलिखित पते पर प्रेषित करने की व्यवस्था करें—

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

महासभा भवन, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, **कोलकाता** 700001

फोन नं. 033-22357956/22343598 फैक्स नंबर : 033-22343666 ईमेल : info@jstmahasabha.org

अधिक जानकारी हेतु निम्नलिखित पते एवं फोन नंबरों पर संपर्क कर सकते हैं— मो. 09331014472 एवं 09831034632

बिनोदकुमार चोरड़िया
महामंत्री

हीरालाल मालू
अध्यक्ष

इधर किसान हरिचरण को प्रभाकर के मंसूबों की भनक लग गई कि प्रभाकर मेरी बेटी से ब्याह के विरुद्ध है। अतएव मेरी बेटी उसके घर जाकर सुखी नहीं रहेगी। उसने कमला को एकांत में बुला कर सारी बातें बता दीं और उसे समझाना चाहा कि उसका सुख ही उसके लिए सबकुछ है। वह चाहे तो प्रभाकर से ब्याह के लिए मना कर दे। जो भी परिणाम होगा, वह भुगत लेगा। किंतु, कमला ने पिता से कहा—'पिताजी, आप निश्चिंत रहिए। वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।'

कमला की परीक्षा

चित्रा मुद्गल

हरिचरण नाम का एक निर्धन किसान था। उसके पास थोड़ी-सी जमीन थी और दो बूढ़े बैल थे। उन्हीं के सहारे वह अपने खेत जोतता-बोता और जो भी उपज होती उसी से अपने कुटुंब का भरण-पोषण करता।

दिन जैसे-तैसे कट रहे थे कि तभी दुर्भाग्य ने उस पर हमला बोल दिया। उसके बूढ़े बैल अचानक बीमार पड़ गए। किसान और उसकी बड़ी बेटी ने उनकी बड़ी सेवा की। मगर तीसरे दिन बैलों की मृत्यु हो गई। हरिचरण की आंखों के सामने अंधेरा छा गया।

बालकथा

वह गांव के कई संपन्न किसानों के पास सहायता मांगने गया। उन सब के पास तीन-तीन जोड़ी बैल थे, किंतु किसी को उस पर दया न आई। उलटा उन्होंने तिरस्कार किया। उसे अपनी चौपाल से यह कह कर निकाल दिया कि—'तुम्हारा-हमारा क्या व्यवहार? तुम फटेहाल, हम संपन्न। जाओ अपनी बराबरी वालों से जाकर बैल मांगो।'

बराबरी वालों की हालत उससे बेहतर न थी। भला उनसे उसे क्या मदद मिलती! चिंता के मारे किसान ने भोजन आदि करना भी छोड़ दिया। उसकी बड़ी बेटी कमला से पिता की यह दयनीय हालत देखी न गई। एक संध्या वह पिता से बोली—'आप चाहें तो बड़ी आसानी से नए बैल खरीद सकते हैं।'

बेटी की बे-सिर-पैर की यह बात सुन किसान खीझ उठा। उसे डपट कर बोला—'तेरा दिमाग तो नहीं फिर गया है? दो-जून खाने के लिए तो जुटता नहीं। नए बैल कहां से खरीद लूंगा?'

पिता की खीझ स्वाभाविक थी। बेटी ने डांट का बुरा न मानते हुए कहा—'एक तरकीब बता सकती हूं। अगर आप उस पर अमल करें तो हमारी सारी मुसीबत चुटकियों में हल हो जाएगी।'

किसान बेटी की बात सुन कर हैरान हो उठा। वह उसकी बड़ी बेटी थी। काम-काज में पूरा हाथ बंटाती थी। अन्य बच्चों की अपेक्षा वह अधिक समझदार और बुद्धिमान भी थी। उसने सोचा बात सुनने में क्या हर्ज है। वह गुस्सा थूक कर बोला—'चल सुना अपनी तरकीब।'

बेटी समझ गई कि पिता उसे गंभीरता से नहीं ले रहे। मगर उसने परवाह किए बगैर कहा—'आपने सुना होगा कि ललितपुर गांव के जमींदार सेवकसिंह को शर्त लगाने का बहुत शौक है। जो भी व्यक्ति उनकी शर्त हल कर देता है वे उसे पुरस्कार स्वरूप दस हजार अशर्फियां देते हैं। आजकल उन्होंने एक नई शर्त लगाई है और डुग्गी पिटवाई है। आप शर्त सुन आइए। हल मैं कर दूंगी। हमें पुरस्कार मिल जाएगा तो हमारे सारे कष्ट दूर हो जाएंगे।'

बेटी की शेखचिल्ली-सी बातें सुन कर किसान अपनी हंसी न रोक सका। किसी प्रकार हंसी रुकी तो वह बोला—'बेटी! तरकीब तो तूने बड़ी जोरदार सोची है, लेकिन क्या तुझे यह भी पता है कि आज तक इक्के-दुक्के ही सेवकसिंह की शर्त हल कर पाए हैं? तू तो उन सबके सामने एकदम बच्ची है।'

कमला ने कहा—'इसका फैसला आप मुझ पर छोड़ दीजिए। बस, आप समय न गंवाइए। फौरन सेवकसिंह के पास जाकर शर्त पूछ आइए। कहीं ऐसा न हो कि शर्त कोई और हल कर दे और हम बैठे टीपते रह जाएं।'

किसान ने सोचा जब बेटी इतना जोर दे रही है तो सेवकसिंह से जा कर मिल ही आता हूं। शर्त हल नहीं भी हुई तो क्या नुकसान।

अगले दिन ही वह सेवकसिंह के पास जा कर शर्त सुन आया और बेटी से आकर बोला—'किसी लड़की की तीन स्थानों से मंगनी आई। एक जगह की मंगनी लड़की की माता ने, दूसरी जगह की मंगनी उसके भाई ने, तीसरी जगह की मंगनी उसके पिता ने स्वीकार कर ली। विवाह की तिथि निश्चित हो गई। भांवर वाली रात को तीनों स्थानों से बरातें आकर दरवाजे पर लग गईं। दुर्भाग्यवश उसी रात लड़की को सांप ने काट खाया और वह मर गई। लड़की के तीनों वरों में से एक वर तो लड़की की चिता के साथ ही जल मरा। दूसरे वर ने दुखी होकर अन्न-जल त्याग दिया। तीसरे ने देवी की आराधना कर संजीवनी मंत्र प्राप्त किया। उस मंत्र से उसने लड़की और चिता में उसके साथ जल मरे वर को फिर से जिला दिया। बताओ, लड़की वास्तव में किसे मिलनी चाहिए?'

प्रश्न सुन कर कमला कुछ देर सोचती रही। फिर बोली—'उत्तर बहुत आसान है। जिसने उस लड़की को जीवनदान दिया, वह तो उसका पिता हुआ और जो कन्या के साथ जल मरा, वह उसका 'बावला' भाई हुआ। जिसने उसके दुख में अन्न-जल का परित्याग किया, वही उसका पति हुआ। लड़की उसी को मिलनी चाहिए।'

किसान ने तत्काल सेवकसिंह को अपनी बेटी का उत्तर सुना दिया। सेवकसिंह उत्तर सुन कर अचंभित रह गए और खूब प्रसन्न हुए। उनने तुरंत अपने खजांची को बुला कर किसान को दस हजार अशर्फियां प्रदान करने का आदेश दिया। अशर्फियां लेकर उल्लसित किसान जैसे ही घर की ओर लौटने लगा कि कुछ सोचते हुए सेवकसिंह ने उसे वापस बुला कर कहा—'मैंने आपकी बुद्धिमान और सुशील बेटी का बहुत नाम सुना है। आज उसका प्रमाण भी मिल गया। मैं उसे अपने घर की बहू बनाना चाहता हूं। क्या आपको यह संबंध स्वीकार है?'

सेवकसिंह का प्रस्ताव सुन कर गरीब किसान हरिचरण को अपने कानों पर विश्वास न हुआ। अनायास उसकी आंखों में आंसू छलछला आए। वह भाव-विह्वल होकर बोला—'ठाकुर साहब! मेरे घर तो दो-दो दिन चूल्हे में आग भी नहीं पड़ती। कहां राजा भोज, कहां गंगू तेली! भला किस मुंह से मैं अपने दरवाजे पर आपका स्वागत करूंगा!'

सेवकसिंह ने स्नेह से किसान की पीठ थपथपाई और कहने लगे—'भाई! माना कि मैं पैसे वाला हूं, आप विपन्न हैं लेकिन संतान के मामले में आप मेरी अपेक्षा अधिक संपन्न हैं।'

सेवकसिंह की बात सुन कर किसान विस्मय से भर उठा—'यह आप क्या कह रहे हैं, ठाकुर साहब?'

सेवकसिंह अपने मन की पीड़ा प्रकट करते हुए बोले—'ठीक ही तो कह रहा हूं भाई हरिचरण। आपके पास कमला जैसी बुद्धिमान और गुणी बेटी है। मेरे पास

बिगड़ेल बेटा है, किंतु मुझे विश्वास है आपकी बेटी अवश्य मेरे घर को नष्ट होने से बचा लेगी।'

'लेकिन....' किसान ने संकोचपूर्वक कुछ कहना चाहा, पर सेवकसिंह ने उसकी बात पूरी नहीं होने दी। उसे आश्वस्त करते हुए बोले—'आप चिंता न करो। घर जा कर फौरन बेटी के ब्याह की तैयारी करो। ब्याह का सारा खर्च मेरी ओर से आपके पास पहुंच जाएगा।'

किसान के तो जैसे भाग्य जाग उठे। उसने सपने में भी नहीं सोचा था कि उसकी बेटी इतने बड़े घर की बहू बनेगी। वह खुशी-खुशी बेटी के ब्याह की तैयारी में लग गया।

सेवकसिंह के बेटे प्रभाकर ने जब यह खबर सुनी कि इसके पिता ने एक दरिद्र लड़की की बुद्धिमत्ता पर मोहित होकर उसे अपनी बहू बनाने का निश्चय किया है, तो वह कमला पर चिढ़ उठा। वास्तव में प्रभाकर किसी अन्य से ब्याह करना चाहता था, किंतु घरवाले उसकी इच्छा के विरुद्ध थे।

प्रभाकर ने मन ही मन कमला से बदला लेने की ठान ली। उसने सोचा कि ब्याह तो किसी प्रकार टल नहीं सकता, किंतु वह कमला की बुद्धिमत्ता की ऐसी कठिन परीक्षा लेगा कि उसकी सारी चतुराई धरी रह जाएगी और एक दिन तंग आकर वह सदैव के लिए अपने मायके चली जाएगी। फिर वह चैन से दूसरी लड़की से विवाह कर लेगा।

इधर किसान हरिचरण को प्रभाकर के मंसूबों की भनक लग गई कि प्रभाकर मेरी बेटी से ब्याह के विरुद्ध है। अतएव मेरी बेटी उसके घर जाकर सुखी नहीं रहेगी। उसने कमला को एकांत में बुला कर सारी बातें बता दीं और उसे समझाना चाहा कि उसका सुख ही उसके लिए सबकुछ है। वह चाहे तो प्रभाकर से ब्याह के लिए मना कर दे। जो भी परिणाम होगा, वह भुगत लेगा। किंतु, कमला ने पिता से कहा—'पिताजी, आप निश्चिंत रहिए। वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।'

कमला को यह भी खबर मिली कि प्रभाकर अपने घर में एक कुआं खुदवा रहा है। तभी उसने भी तुरत अपने घर से लेकर कुएं के तल तक एक सुरंग तैयार करवा दी। दोनों का विवाह हो गया।

सेवकसिंह बहू के घर आते ही निश्चिंत होकर तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़े। पिता के घर से जाते ही प्रभाकर ने तेवर बदले। उसने फौरन कमला को कुएं में डलवा दिया और उस पर कटाक्ष करता हुआ बोला—'बड़ी चतुर बनती हो ना! अब चखो मजा अपनी चतुराई का। मैं कमाने परदेश जा रहा हूं। जब लौटूंगा तो मेरे द्वारा तुम्हारे तीन पुत्र हो जाने चाहिएं। अगर नहीं हुए तो तुम्हें इसी कुएं में जीवनपर्यंत सड़ना होगा!'—फिर उसने अपने घरवालों से कहा—'इसके भोजन के लिए प्रतिदिन कोदों का भात कुएं में भिजवा दिया करना।'

प्रभाकर के परदेश रवाना होते ही कमला सुरंग के द्वारा अपने पिता के घर पहुंच गई। उसने अपने पिता से कहा—'मेरे स्वामी के घरवाले रोज मेरे लिए कुएं में भोजन लटकाएंगे। आप कुएं के भीतर किसी को भेज दिया करिए। वह मेरे हिस्से का भोजन लेता रहेगा और मेरे घरवालों को भ्रम बना रहेगा कि मैं कुएं के भीतर ही हूं।'

पिता को समझा-बुझा कर कमला अपने पति का पीछा करते हुए परदेश चल पड़ी। पति जिस नगर में ठहरा, ठीक उसीके घर के सामने एक मकान किराए पर लेकर फूल बेचने वाली के भेष में वह रहने लगी। थोड़े ही दिनों में उसने अपने पति को आकर्षित कर लिया। समय व्यतीत होता रहा। इसी बीच उसे तीन पुत्र हो गए।

कुछ दिनों बाद प्रभाकर ने फूलवाली से कहा—'मुझे अपने कुटुंब की याद आ रही है। मैं कल ही अपने घर जा रहा हूं। ये बीस हजार अशर्फियां रख लो, बच्चों की देखभाल के काम आएंगी।'—यह कह कर प्रभाकर कमाया हुआ धन साथ लेकर अपने घर की ओर रवाना हो गया।

कमला भी अपने तीनों पुत्रों समेत गुपचुप एक बंद रथ में सवार हो पिता के घर की ओर चल पड़ी। पिता के घर पहुंच कर उसने तुरंत उन्हें बीती बातें बता दीं और सुरंग के द्वारा अपने पुत्रों समेत कुएं में जा बैठी।

प्रभाकर रास्ते में अपने मित्रों से मिलता-मिलाता कुछ दिनों बाद घर पहुंचा। घर पहुंचते ही उसने पत्नी कमला की कुशलक्षेम जाननी चाही। घरवालों ने बताया कि कुएं में उसकी पत्नी ठीक है, लेकिन पिछले कुछ दिनों से वह कुएं से आवाज लगा कर ज्यादा भोजन मांगती है।

प्रभाकर ने हैरत में पड़ कर पूछा—'वह किसलिए?'

—'कहती है कि इतने भोजन में तो एक आदमी का पेट नहीं भर सकता। हम चार-चार प्राणी कैसे जीवित रहेंगे?'

—'चार-चार प्राणी?'—घरवालों की बात सुन प्रभाकर चकरा उठा। उसने अविश्वास से भर कर पूछा—'कुएं में तो सिर्फ कमला को छोड़ कर गया था। ये अन्य तीन प्राणी कहां से आ गए?'

उसके मन में तुरंत कुविचार आया। कहीं कुएं में पर-पुरुष तो कमला के साथ नहीं रह रहा? फिर तो मैं इस कुलच्छनी को जीवित नहीं छोड़ूंगा। यह निश्चयकर उसने तुरत कुछ लठैतों को बुलवाया और उन्हें कुएं के पास चारों तरफ तैनात कर दिया। उन्हें समझा दिया कि जैसे ही उसका संकेत हो, लाठियां बरसाना शुरू कर दें।

इसके बाद उसने एक खटोला मंगवाया। उसे रस्सियों के सहारे कुएं में उतार कर, कमला को अन्य तीनों प्राणियों समेत ऊपर आने का हुक्म दिया।

रस्सी ऊपर खींची गई तो सारे लोग यह देख कर अवाक् रह गए कि खटोले पर कमला तीन नन्हे बच्चों समेत बैठी हुई है। प्रभाकर को ऐसा लगा कि बच्चों को उसने कहीं देखा है। किंतु, यह उसे अपनी दृष्टि का भ्रम प्रतीत हुआ। उसने कठोर स्वर में कमला से पूछा—'ये बच्चे किसके हैं?'

कमला ने निर्भीक स्वर में उत्तर दिया—'आपके स्वामी।'

—'मेरे?'

—'हां, हां आपके।'

यह कह कर कमला ने बीस हजार अशर्फियों से भरी थैली प्रभाकर के चरणों में रख दी। फिर उसे सारा किस्सा ज्यों-का-त्यों सुना दिया।

फिर क्या था, प्रभाकर ने उसे घर की सारी चाबियां सौंप कर घर की मालकिन बना दिया और स्वयं भी मान-मर्यादा से रहने लगा।

ठीक ही कहा गया है कि बुद्धिमान व्यक्ति कठिन परिस्थितियों में भी साहस से काम लेता है और अपने उद्देश्य में सफल होता है। ❖

क्यों होता है आर्थिक असदाचार : जरा सोचें!

पृष्ठ 38 का शेष

कलुषता का भाव ही असदाचार और अन्याय को जन्म देता है। जब तक भाव और मन में अशुचिता नहीं आएगी, तब तक जीवन-व्यवहार निष्कलुष बना रहेगा। यदि हमें आर्थिक शुचिता को प्रतिष्ठित करना है तो भावात्मक शुचिता पर पहले ध्यान देना होगा। यही वह बिंदु है, जहां हम आर्थिक शुचिता के संदर्भ में धर्म और अध्यात्म की भूमिका को समझ सकते हैं। मन और भावों की अशुचिता को मिटाए बिना आर्थिक शुचिता की प्रतिष्ठा का संकल्प सफल नहीं हो सकता और जब तक मन और भावों का परिष्कार नहीं होगा, तब तक आर्थिक शुचिता का प्रश्न एक दिवा-स्वप्न बना रहेगा।

वर्तमान युग की समस्या यह है कि आज सारा ध्यान व्यवस्था परिवर्तन पर केंद्रित है। हृदय-परिवर्तन की बात गौण बनी हुई है। आर्थिक अशुचिता का मुख्य कारण यही है। इस ओर ध्यानाकर्षण जरूरी है। जिस दिन जन-जन के मन में हृदय-परिवर्तन की अनिवार्यता का अनुभव होगा, उस दिन आर्थिक शुचिता जीवन-व्यवहार का अंग बन जाएगी। ❖

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

स्व. बादरमलजी बाफना

Reid & Taylor Exclusive Store

Mohan Moti

568, 3rd Stage, 4th Block
80 Feet Road, Basaveshwarnagar, **BANGALORE** 560079
Ph. : + 91 8023224688

4, Kamanhalli Main Road, 3rd Block
HRBR Layout, **BANGALORE** 560043

MOHAN MOTI ANNEXE

28, Panchratna Plaza, (Opp. Poonam Plaza)
D.S. Lane, Chickpet, **BANGALORE**-53
Ph. : + 91 8022373003

MOHAN MOTI DISTRIBUTORS

12, Poonam Plaza
No. 5, D.S. Lane, Chickpet, **BANGALORE**-53
Ph. : + 91 8022255680
E-mohanmoti@gmail.com / www.mohanmoti.co.cc

M.B. Bafna 9341268415, **Mahendra M. Bafna** 9342232270

जैन भारती, दिसंबर, 2012 ■ प्रेषण दिनांक 28 नवंबर, 2012
भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2012-2014

शासनसेवी बुद्धमल दुगड़
सुरेन्द्रकुमार, तुलसीकुमार, कमलकुमार दुगड़
(कल्याण मित्र दुगड़ परिवार)

के.बी.डी. फाउण्डेशन

बुद्धमल सुरेन्द्र दुगड़ फाउण्डेशन

बुद्धमल तुलसी दुगड़ फाउण्डेशन

बीएमडी कमल दुगड़ फाउण्डेशन

201/504, वैष्णो चेंबर, 6, बेब्रॉर्न रोड, कोलकाता 700001
फोन : 22254103/4889

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।